



॥ ॐ ॥  
॥ श्री परमात्मने नमः ॥  
॥ श्री गणेशाय नमः ॥

# ॥ श्री शम्भु गीता ॥





# श्री शम्भु गीता



श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

**श्री मनीष त्यागी**

संस्थापक एवं अध्यक्ष

श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

**॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥**



## विषय सूची

अथ प्रथमोऽध्यायः : प्रथम अध्याय.....	4
धर्मनिरूपणम्.....	4
अथ द्वितीयोऽध्यायः : द्वितीय अध्याय .....	38
पिण्ड दृष्टि निरूपणम्.....	38
अथ तृतीयोऽध्यायः : तृतीय अध्याय .....	71
चक्रपीठ शुद्धि निरूपणम्.....	71
अथ चतुर्थोऽध्यायः : चतुर्थ अध्याय.....	102
दैवलोक निरूपणम्.....	102
अथ पंचमोऽध्यायः : पांचवां अध्याय.....	129
अध्यात्मतत्त्व निरूपणम्.....	129
अथ षष्ठोऽध्यायः : छठा अध्याय .....	157
भगवद्भागवतसम्बन्ध निरूपणम्.....	157
अथ सप्तमोऽध्यायः : सातवा अध्याय .....	191
शिवलिङ्ग निरूपणम् । .....	191



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः : प्रथम अध्याय

धर्मनिरूपणम्

सूत उवाच ॥१॥

सूतजी बोले ॥१॥

हे गुरो ! वेदतत्त्वज्ञ ! कलिकल्मषनाशन ! ।  
स्वयाऽऽध्यात्मस्य तत्त्वस्य ह्याधिदेवस्य च प्रभो ! ॥२॥

नैकाः प्रकाशिका गीता ज्ञानरत्नैः प्रपूरिताः ।  
प्रकाशकानि वेदानामर्थस्य च वह्न्यलम् ॥३॥

श्रावयित्वा पुराणानि कृतकृत्यः कृतोऽस्म्यहम् ।  
भवतैव पुरा प्रोक्तमेकदा माम्पनि स्वयम् ॥४॥

आवागमनचक्रस्य गति यश्चावबुध्यते ।  
मुक्तः स एव कैवल्यं पदं प्राप्तुमलं त्विति ॥५॥

हे वेदतत्त्ववेत्ता ! है कलिकल्मषनाशन ! हे गुरो ! हे प्रभो ! आपने अध्यात्म तत्व और अधिदैव तत्त्व की प्रकाशक ज्ञानरत्नों से पूरित अनेक गीताएँ और वेदार्थ प्रकाशक अनेक पुराणों को भली भाँति मुनाकर मुझे कृतकृत्य किया है। आपने स्वयं ही मुझसे पहले एक बार कहा था कि जो आवागमनचक्र की गति को जान जाता है वही उससे मुक्त होकर कैवल्यपदका अधिकारी होसकता है ॥२-५ ॥

अतो मां कृपया नाथ ! शाखमेवंविधं हितम् ।  
निशामयस्व येनाहं ज्ञातुं शक्नोमि सत्वरम् ॥६॥

आवागमनचक्रस्य रहस्यं साम्प्रतं गतेः ।  
अधिकुर्याञ्च मोक्षाख्यं यथा नूनं परम्पदम् ॥७॥

अतः हे नाथ ! कृपया मुझे ऐसा हितकर शास्त्र इस समय सुनाइए जिससे मैं आवागमनचक्र की गति के रहस्य को शीघ्र समझ सकूँ और जिससे मुकिरूप उत्तम पदका अवश्य अधिकारी बन सकूँ ॥६-७ ॥

व्यास उवाच ॥८॥

श्रीव्यासजी बोले ॥८॥

प्रियशिष्य ! प्रसन्नोऽहं तत्र ज्ञानपिपासया ।  
जगत्कल्याणसम्पत्तै प्रवृत्त्या चानिशं परम् ॥९॥



हे प्रिय शिष्य ! मैं तुम्हारी ज्ञान पिपासा और अहर्निश जगत कल्याण वृद्धि की परम प्रवृत्ति से प्रसन्न हूँ ॥ ९ ॥

अतस्तुभ्यमहं सूतोपनिषत्साररूपिणीम् ।  
अपूर्वो महतीं गीतां श्रावयिष्ये महामते ! ॥१०॥

यथा ज्ञानपिपासा ते शान्ता सामयिकी भवेत् ।  
तापतप्तपिपासेव शीतलैगाङ्गिवारिभिः ॥११॥

अतः हे महामते सूते! मैं तुमको उपनिषदों की साररूप एक अत्यन्त अपूर्व गीता सुनाऊंगा जिससे तुम्हारी इस समय की ज्ञानपिपासा इस प्रकार तृप्त हो जायगी जिस प्रकार ताप से सन्तप्त प्राणी की पिपासा शीतल गंगाजल से तृप्त हो जाती है ॥१०-११॥

पूर्वमेव मया प्रोक्तं तुभ्यं सूत ? महामनः ! ।  
प्रधानसृष्टिरुपिण्या मर्त्यसृष्टेर्नियामकः ॥ १२ ॥

आस्ते वर्णाश्रमो धर्मो नात्र काचिद्विचारणा ।  
वर्णाश्रमाणां धर्माणां साहाय्यात् पितरोऽखिलाः ॥१३॥

गतेः क्रमोद्धर्व गामिन्याः मानवानां विधायकाः । वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य  
हासे जाते कदाचन ॥१४॥

पितृणां लोकसाधिन्यां व्यवस्थायामुपस्थिता ।  
बाधना सर्वथा तात! लोकानां मुहदस्तदा ॥१५॥

देवर्षेनारदस्यैव सत्परामर्शतश्चिरम् ।  
तपस्तप्तं हि तैघोरं लोककल्याणकांक्षया ॥१६॥

हे महामना ! सूत ! मैंने तुमको पहले ही कहा है कि प्रधान सृष्टि रूपी मनुष्य सृष्टि का नियामक वर्णाश्रमधर्म है, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है । वर्णाश्रमधर्म की सहायतासे मनुष्य की क्रमोद्धर्त गति के विधायक सब पितृगण हैं। किसी समय वर्णाश्रम धर्म में शिथिलता हो जाने से पितरो की लोक हितकर व्यवस्था में सर्वथा बाधा हुई थी। हे तात ! उस समय सर्वलोकसुहृत् देवर्षि नारद जी के ही सत्परामर्श से पितरों ने बहुत दिनों तक लोगों के कल्याण की इच्छा से ही घोर तप किया था ॥१२-१६॥

प्रसन्नस्तपसा तेषां शम्भुः श्रीभगवान् स्वयम् ।  
सगुणेनाऽथ रूपेण प्रादुर्भूयोपदिष्टवान् ॥१७॥

अनन्तर उनके तप से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् शम्भु ने उनके सम्मुख स्वयं सगुणरूप में आविर्भूत होकर जो उपदेश दिया था ॥१७॥

उपदेशं तमेवाद्य त्वामहं वच्मि शाम्भवम् ।  
शम्भुगीताभिधानेन ते लोकेषु प्रचारय ॥ १८ ॥

उसी शाम्भव उपदेश को अभी तुमसे मैं कहता हूँ । तुम जगत में उसको शम्भुगीता, नाम से प्रचार करो ॥१८॥



अस्ति देवासुरी सृष्टिर्लोकानां सुहृदेकतः।  
चतुर्धा भूतसङ्घानां प्राकृती सृष्टिरन्यतः ॥१९॥

हे लोकसुहृत् ! एक ओर देवासुर-सृष्टि और दूसरी ओर चतुर्विध  
भूतसंघ की प्राकृत सृष्टि है ॥१९॥

स्वाधीना चैतयोर्मध्ये सृष्टिः पूर्णाङ्गसंयुता ।  
कर्माधिकारिणी याऽऽस्ते सृष्टिः सैवास्ति मानवी ॥२०॥

और इन दोनों के बीच में पूर्णा वयच और कर्म की अधिकारिणी जो  
स्वाधीन सृष्टि है वही मनुष्य सृष्टि है ॥२०॥

यद्धर्मातिप्रभावेण मर्त्यसृष्टेगतिर्बुवम ।  
क्रमोर्दध्वगामिनी तिष्ठेन्मानवानाञ्च योनितः ॥२१॥

प्राणिनः एतनाद्रक्षेद्धर्मो वर्णाश्रमोऽस्त्यसौ ।  
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मृत ! तात ! भोः ॥२२॥

जिस धर्म के अत्यन्त प्रभाव से मनुष्य सृष्टि की कर्मो उद्धर्व गामिनी  
गति निश्चय बनी रहती है और जीवों को मनुष्ययोनि से पतन होने  
नहीं देता वह वर्णाश्रम धर्म है, हे तात सूत ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है  
॥२१-२२॥

वर्णाश्रमाख्यधर्मेण पितरो वर्द्धिता भृशम् ।  
जीवेभ्योऽभ्युदयं शश्वद्दते नेह संशयः ॥२३॥





वर्णाश्रम धर्म से अत्यन्त संवर्द्धित होकर पितृगण जीवों को सर्वदा  
अभ्युदय प्रदान किया करते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥२३॥

वर्णाश्रमाख्यधर्मेषु शैथिल्य समुपस्थिते ।  
कर्तुं कर्मोपयुक्तासु स्वाधीनास्वपि सृष्टिषु ॥२४॥

जायते मानवानां भोः सूत ! नून विषयः ।  
स्वाधीनसृष्टिपुजेषु ध्रुवं जाते विषयये ॥२६॥

विप्लवः सृष्टिषु प्राज्ञ ! भवेत्सर्वविधास्वपि । भीषणोदकमेवैतदृष्ट्वा  
पितृगणैः खलु ॥२६॥

तपस्तप्तं पुरा घोरं विश्वकल्याणसम्पदे ।  
स्वतपस्याप्रभावेण तोपितो भगवांश्च तैः ॥२७॥

सर्वशक्तयालयः शम्भुः सर्वलोकहितमदः ।  
अन्वभावि तदा तात ! सर्वैः पितृगणैश्च तैः ॥२८॥

सप्तानां स्वरसङ्घानां स्वरूपस्य समष्टितः ।  
ओङ्कारध्वनितो दिव्यं कोटिमूर्त्याधिकप्रभम ॥२९॥

एकं प्रादुरभूज्योतिरुज्ज्वलं सुमनोहरम ।  
तज्योतिरन्तरा शम्भुरासीनः प्रणवासन ॥३०॥

प्रादुर्भूतो महादेवो भगवाँल्लोकशङ्करः ।  
शुभैस्तदङ्गवर्णैस्तु गिरयो राजता अलम् ॥ ३१ ॥

अमिता अब्धीर्यन्ते त्रिभिनेत्ररलङ्कृतः ।  
विभ्रदिव्यं जटाजूटं भस्मभूपितविग्रहः ॥ ३२ ॥

त्रिशूलं खर्परं शृङ्गीं दधानो डमरुन्तथा ।  
चतुर्भुदिव्यहस्तैः स्वैः नागयज्ञोपवीतवान् ॥ ३३ ॥

व्याघ्रचर्माम्बरं दिव्यं वसानः शोभते भृशम् ।  
तदवामांके समासीना षोडशी सर्वमुन्दरी ॥ ३४ ॥

पूर्णशक्तिमयी श्यामा तस्य वैभवपूर्णताम् ।  
सम्पादयन्ती सततं मनोज्ञा राजतेतराम् ॥ ३५ ॥

हे सूत ! वर्णाश्रमधर्मके शिथिल हो जाने से कर्म करने की उपयोगिनी स्वाधीन मानव दृष्टि में भी अवश्य निर्यय होता है; हे प्राज्ञ सूत ! स्वाधीनसृष्टि समूह में विपर्यय होने से ही सब प्रकार की सृष्टि में भी विप्लव होने की अवश्य सम्भावना रहती है। इसी भीषण परिणाम को देखकर ही पितरों ने विश्वकल्याण-सम्पादन के लिये युग काल में घोर तपस्या की थी और अपनी तपस्या के प्रभाव से उन्होंने सर्वशक्तिमान् सर्वलोकहितकर भगवान् शम्भु को प्रसन्न किया था। हे तात! उस समय उन सब पितरो ने अनुभव किया कि सप्त स्वर्गों के रूप की समष्टि रूप ओंकार ध्वनि से एक दिव्य कोटि सूर्य से भी अधिक प्रभावान् समुज्वल सुमनोहर ज्योतिः प्रकट हुई। उस ज्योति के अन्तर्गत प्रणावासनालीन लोक शंकर महादेव भगवान् शम्भु प्राविभूत हुए। उनके शुभ्र अंग वर्णों से अगणित रजत गिरि अत्यन्त तिरस्कृत हो रहे थे, तीन नेत्रोंसे सुशोभित थे, दिव्य जटा जूटधारी



भस्मभूषितकलेवर अपने चारों दिव्य हाथों में डमरू खप्पर त्रिशूल और सींग धारण किये हुये हैं, अनन्त नाग जिनके यज्ञोपवीत है, दिव्य व्याघ्रचर्म रूपी वस्त्र को पहने हुए हैं जिससे बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं। उनके वाम अंक पर बैठी हुई सर्वसुन्दरी पूर्णशक्तिमयी मनोहारिणी षोडशी श्यामा उनके वैभव की पूर्णता को निरन्तर सम्पादित करती हुई अत्यन्त सुशोभित है ॥२४-३५॥

पाशाङ्कुशौ च विभ्राणा 'लोचनत्रयभूषिता ।  
कल्याणं जंगतां कर्तुं मन्दस्मितमनोरमा ॥३६॥

वह पाश और अंकुश को धारण किये हुई हैं, त्रिलोचन से सुशोभित हैं और जगत का कल्याण करने के लिये ईषत् हास्य से शोभायमान है ॥३६॥

दिव्यमेवंविधं रूपं सगुणं पितरस्तदा ।।  
आलोक्याऽऽशान्विताः सन्तो बद्धहस्ताः ययाचिरे ॥३७॥

उस समय ऐसे दिव्य सगुण रूप को देखकर पितृगण आशान्वित होकर हाथो को जोड़कर प्रार्थना करने लगे ॥३७॥

पितर ऊचुः ॥३८॥

पितृगण बोले ॥३८॥

विश्वेश्वर ! वयं भाविविश्वदुःखेन कातराः ।



निराकां हि तदुःखमापन्नाः शरणं तव ॥३९॥

हे विश्वेश्वर ! हम जगत् के भावी दुःखसे कातर हो उसके निराकरण के लिये ही आपके शरणागत हुए हैं ॥३९॥

साम्प्रतं मानवे लोके करुणावरुणालय !  
धर्मे विप्लवसद्भावात् प्रभो ! धर्मस्य तात्त्विकम् ॥४०॥

सार्वभौमस्वरूपं वै लुप्तमायं प्रजास्वभूत् ।  
वर्णाश्रमाख्यधर्मैः प्रजाश्रद्धोपसंहृतेः ॥४१॥

आर्यजातेः किलार्यत्वं लुप्तमायोऽभवञ्च तत् ।  
भयभीता वयं जाता अतः शम्भो ! दयार्णव ! ॥४२॥

हे करुणावरुणा लय प्रभो! इस समय मनुष्यलोक में धर्म विप्लव हो जाने से धर्म का यथार्थ सार्वभौमस्वरूप प्रजा प्रायः लुप्त ही हो गया है और 'वर्णाश्रम धर्म की ओर से प्रजा की श्रद्धा उठ जाने से ही आर्य जाति का आर्यत्व लुप्तप्राय हो गया है इस कारण हे दयार्णव शम्भो ! हम भयभीत हुए हैं ॥४०-४२॥

कस्मिंश्चित्समये दैव्यां सृष्टौ हि विप्लवे सति ।  
यदि देवाप्सरे युद्धेऽसुराणां विजयो भवेत् ॥४३॥

तदा शम्भो ! भवत्यष्टौ भवेन्नूनं विपर्ययः ।  
अतस्त्वच्छरणापन्ना वयं भीता अभूम ह ॥४४॥

कालान्तर में दैवी सृष्टि में विप्लव होने पर यदि देवासुर संग्राम में असुरों का विजय होजाय तो हे शम्भो! आपकी सृष्टि में अवश्य विपर्याय होगा इस कारण हम भयभीत होकर आपके शरणागत हुए हैं ॥४३-४४॥

उपदिश्य, यथायोग्यमस्मानिः साध्वसान कुरु ।  
एषा नः प्रार्थना नाथ ! साअलि त्वत्पदाम्बुजे ॥ ४५ ॥

हमको यथायोग्य उपदेश देकर निर्भय करें, हे नाथ ! यही आपके चरणकमलों में हमारी साञ्जलि प्रार्थना है। ॥४५॥

सदाशिव उवाच ॥ ४६ ॥

श्रीसदाशिव बोले ॥४६॥

अपनोदयत स्वीयं चित्तस्थं भयमुल्बणम् ।  
उपदेशेषु मे भूयः श्रद्धां कुरुत सत्तमाः ! ॥४७॥

हे महानुभावो! अपने चिर के उत्कट भय को आप दूर करो और मेरे उपदेशों पर श्रद्धान्वित हो ॥४७॥

दूरीभूते भये वश्व जगद्गीतिर्विनचति ।  
भवन्तो हि यतस्सन्ति स्थूलसृष्टेनियामकाः ॥४८॥



आपका भय दूर होने पर जगत का भी भय दूर होगा क्योंकि आप लोग ही स्थूल सृष्टि के नियामक हैं ॥४८॥

स्थूलसृष्टेश्च धात्रयस्ति सूक्ष्मष्टिन संशयः ।  
प्राणिनः स्थूलदेहं हि प्राप्तवन्तो यथाविधम् ॥४९॥

तांद्रगेव प्रकुर्वन्ति कर्मेह पिनरो ध्रुवम् ।  
नात्र कश्चन सन्देहः सत्यं सत्यं वदामि वः ॥५०॥

स्थूलसृष्टि निःसन्देह सूक्ष्मसृष्टि की धात्री है, जिस प्रकार के स्थूल शरीर को जीव प्राप्त होते हैं है पितृगण ! निश्चय उसी श्रेणी के कर्म वह यहां किया करते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं मैं आपलोगों से सत्य कहता हूँ ॥४९-५०॥

भवत्स्वतः प्रसीदत्सु मानवानां निरन्तरम् ।  
स्थूलदेहा जनिष्यन्ते नूनं धर्मसहायकाः ॥५१॥

अतः आप सभी के प्रसन्न होने से निरन्तर ही मनुष्यों के स्थूलशरीर धर्म सहायक उत्पन्न होंगे ॥५१॥

पितरो निश्चितं लोके धर्मगाम्भीर्यलोषतः ।  
धार्मिको विप्लवो घोर उपातिष्ठत साम्प्रतम् ॥५२॥

हे पितृगण ! संसार में इस समय धर्म का गंभीरता के लोप होने से निश्चय बोर धर्मविप्लव उपस्थित हुआ है ॥५२॥

धार्मिके विप्लवे जाने धम्मै गौणं विदन्त्यहो।  
अहम्मन्या जनाः सर्वे पापण्डे पण्डिता भृशम् ॥५३॥

और धर्मविप्लव उपस्थित होनेसे अहाँ धर्म को अहम्मन्य और पाखण्ड में पण्डित सभी लोग अत्यन्त गौण समझने लगे हैं ॥५३॥

शाश्वतस्य च धर्मस्य सार्वभौमस्वरूपकम् ।  
जानीयुर्मानवाः किं नु धर्माचर्य्यगणा अपि ॥५४॥

अज्ञात्वा तत्स्वरूपं हि पथो निमिरे पृथक् ।  
कुमार्गमवलम्बन्ते भ्रान्ता यैरेव मानवाः ॥५५॥

और शाश्वत धर्म के सार्वभौम स्वरूप को मनुष्य तो, क्या जाने धर्माचार्यों ने भी उसके स्वरूप को न समझकर स्वतन्त्र पन्थ निर्माण किये हैं जिनसे ही भ्रान्त होकर मनुष्य कुपथगामी बनते हैं। ॥५४-५५॥

धर्मगाम्भीर्यनाशेन मानवानाञ्च बुद्धयः।  
बहिर्मुखीनाः सम्वृत्ता इन्द्रियेषु परायणाः ॥५६॥

और धर्म की गंभीरता का नाश होने से ही मनुष्यों की बुद्धि बहिर्मुखीन और इन्द्रियपरायण हो गई है ॥५६॥



निमज्जेयुर्यथा पूर्णे सुगभीरे जलाशये।  
अनेकेऽपि गजाः सम्यक् किन्तु तस्य जलं यदि ॥५७॥

क्षेत्रे प्रसारयेत्कापि महासीम्नि पितृवजाः।  
शशकोऽपि तदा तत्र निमज्जेन्नैव कहिर्चित्त ॥५८॥

हे पितृगण ! जिस प्रकार जलपूर्ण सुगंभीर जलाशय में अनेक हस्ती भी अच्छी तरह डूबी जा सकते हैं परन्तु उस जलाशय का जल यदि किसी बड़े मैदान में फैला दिया जाय तो उसमें खरगोश भी कभी भी नहीं डूब सकता ॥५७-५८॥

आसीज्जलाशये यावत्तावदेव जलन्तु तत् ।  
किन्तु शक्तौ विपर्यासो भवेदगाम्भीर्यनाशतः ॥५९॥

वह जल जितना जलाशय में था उतना ही तो रहता है परन्तु उसकी गम्भीरता नष्ट होने से उसकी शक्ति में फेर, पड़ जाता है ॥५९॥

समष्टिव्याष्टिरूपाभ्यां स्रष्टेः सन्धारिका मम ।  
शक्तिनियामिका सैव ध्रुवं धर्मः सनातनः ॥६०॥

समष्टि और व्यष्टिरूप से, सृष्टि के धारण करने वाली जो मेरी नियमाका शक्ति है उसी को सनातन धर्म कहते हैं ॥६०॥

तत्सनातनधर्मस्य पादाश्चत्वार आसते ।  
साधारणविशेषौ हि तथाऽसाधारणापदौ ॥६१॥





उस सनातन धर्म के चार पाद है, यथा-साधारण धर्म, विशेष धर्म, असाधारण धर्म और आपद्धर्म ॥६१॥

सार्वभौमो यतो धर्मः सर्वलोकहितप्रदः।  
ददासभ्युदयं नित्यं सुखं निःश्रेयसन्तथा ॥६२॥

धर्म सार्वभौम और सर्वलोकहितकर होने से यह निरन्तर अनायास, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है ॥६२॥

निखिलं धर्मशक्तचैव विश्वमेतञ्चराचरम्।  
क्रमेणाभ्युदयं लब्ध्वा सरत्यग्रे हि माम्प्रति ॥६३॥

यह स्थावर-जंगमात्मा समस्त विश्व धर्म को शक्ति से ही क्रमशः अभ्युदय प्राप्त करके ही मेरी ओर अग्रसर होता है ॥६३॥

ज्ञानिनो मम भक्ताश्च धर्मशक्त्यैव सत्त्वरम्।  
तत्त्वज्ञानस्य साहाय्याल्लभन्ते मुक्तिमुत्तमाम् ॥६४॥

और मेरे ज्ञानी भक्तगण धर्म की ही शक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान की सहायता से उत्तम निःश्रेयस को शीघ्र प्राप्त होते हैं ॥६४॥

शाश्वतस्यास्य धर्मस्य यावत्प्रादुर्भविष्यति ।  
सार्वभौमस्वरूपं हे पितरो भाग्यशालिनः! ॥६५॥

जनानां क्षुद्रता लोके तावत्येव विनक्षंयति ।  
साधारणस्य धर्मस्य तत्त्वतो हृदयङ्गमम् ॥६६॥



सार्वभौमस्वरूपं हि कर्तुमह्यै न संशयः ।  
पालनीयाः सदाचारा आर्यजातीयमानवैः ॥६७॥

वर्णाश्रमीयधर्मस्य विशेषस्य तथैव च ।  
यतो वर्णाश्रमैधर्मेविहीना सर्वथा ननु ॥६८॥

असौं सृष्टिर्मानवानां कालिकायाः प्रभावतः ।  
प्रकृतर्मे लयं याति कुत्रचित्समये स्वतः ॥६९॥

हे भाग्यशाली पितृगण ! इस सनातन धर्म का सार्वभौम स्वरूप जितना प्रकट होगा संसार में मनुष्यों की क्षुद्रता उतनी ही नष्ट होगी। तत्त्वतः साधारण धर्म का सार्वभौम स्वरूप निःसन्देह हृदयंगम करने योग्य है और उसी प्रकार वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के सदाचार भी आर्य जातीय मनुष्यों से पालन कराने योग्य हैं; क्योंकि वर्णाश्रम धर्म रहित यह मनुष्य सृष्टि स्वतः मेरी प्रकृति काली के प्रभाव से किसी समयान्तर में सर्वथैव लय को प्राप्त हुआ करती है ॥६५-६९॥

धत्ते रूपान्तरं वासौ नात्र कार्या विचारणा ।  
वर्णाश्रमाणां धर्माणां बीजरक्षामभावतः ॥७०॥

मर्त्यानां रक्षितः पन्थाः स्यात् क्रमाभ्युदयपदः ।  
शाश्वतस्य हि धर्मस्य ज्ञान स्यात्तेन कहिचित् ॥७१॥

अथवा वह रूपान्तर को धारण कर लिया करती है। इसमें कोई विचार की बात नहीं है। वर्णाश्रम धर्म को बीजरक्षा के प्रभाव से



मनुष्योंकी अभ्युदय देनेवाली शैली की रक्षा होती है, उससे किसी समय सनातन धर्म का ज्ञान होता है। ॥७०-७१॥

वर्णधर्म यतो विज्ञाः प्रवृत्ते रोधकं जगुः ।  
निवृत्तेः पोषकञ्चैव धर्ममाश्रमगोचरम् ॥७२॥

क्योंकि हे विज्ञ पितृगण ! वर्ण धर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रम धर्म निवृत्तिपोषक कहा जाता है। ॥७२॥

अतो वर्णाश्रमाख्यस्य धर्मस्यैव सुरक्षणात् ।  
रक्षिता पितरो वो हि शक्तिः सम्पत्स्यते शुभा ॥७३॥

इसलिये हे पितृगण ! वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के द्वारा ही तुम्हारी ही शुभ शक्ति रक्षित होगी ॥७३॥

साधारणस्य धर्मस्य विशेषस्य तथैव च ।  
कियन्तीवर्णयाम्यद्य वृत्तीयुषकमन्तिके ॥७४॥

श्रयन्तां ता भवद्भिस्तु दत्तचित्तैः शनैः शनैः ।  
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥७५॥

अब साधारण धर्म और विशेष धर्म की कुछ वृत्तियों का वर्णन आपलोग के सामने करता हूँ आपलोग दत्तचित्त होकर उनको शनैः शनैः सुने ॥ ७४-७५ ॥



धीर्विद्या सत्यमक्रोध औदार्य समदर्शिता ।  
परोपकारनिष्कामभावप्रभृतयः शुभाः ॥७६॥

साधारणस्य धर्मस्य विद्यन्ते वृत्तयो ध्रुवम् ॥७७॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, उदारता, समदर्शिता, परोपकार, निष्कामभाव आदि साधारण धर्म की ही शुभ वृत्तियां हैं। ॥७६-७७॥

ब्रह्मचर्यश्च दाम्पत्यं निवासी निर्जने बने ।  
त्यागो ह्यध्यापनश्चैव याजनञ्च प्रतिग्रहः ॥७८॥

धर्मयुद्धं प्रजारक्षा वाणिज्यं सेवनादयः ।  
विशेषस्यापि धर्मस्य सन्तीमाः खलु वृत्तयः ॥७९॥

और ब्रह्मचर्य, दाम्पत्य, निर्जनवनवास, त्याग, पाठन, याजन, प्रतिग्रह, प्रजापालन, धर्मयुद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि, विशेष धर्म की यह ही वृत्तियां हैं ॥७८-७९॥

साधारणस्य धर्मस्यावयवाः कीर्तिता यथा ।  
विशेषस्यापि धर्मस्य तथाङ्गानि पृथक् पृथक् ॥८०॥

जिस प्रकार साधारण धर्म के अंग कहे गये हैं उसी प्रकार विशेष धर्म के भी अलग अलग अंग हैं ॥८०॥

उपाङ्गान्यपि धर्मस्य वर्तन्ते भूरिशो ध्रुवम् ।  
देशकालादिवैचित्र्यादुपाङ्गं ह्येकमेव च ॥८१॥

अङ्गानां नन्वनेकपामुपाङ्गं स्याइसंशयम् ।  
अत्यन्तं वर्तते विज्ञाः ! धर्मस्य गहना गतिः ॥८२॥

धर्म के उपांग भी अनेक ही हैं और देशकाल पात्र की विचित्रता के अनुसार एक ही उपांग अनेक अंगों का निःसन्देह ही उपांग हो सकता है। हे विज्ञो! धर्म की गति अति गहन है। ॥८१-८२॥

जायते भावसाहाय्याभूतिदाः ! अन्तरं बहु ।  
सर्वधर्मस्वरूपेषु सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥८३॥

हे पितृगण ! भावकी सहायता से सब धर्मों के स्वरूपों में अनेक अन्तर हो जाया करता है, यह मैं आप लोगों को सत्य कहता हूँ ॥८३॥

भावतत्त्वस्य विज्ञानं पूर्णरूपेण वेदितुम् ।  
अन्तःकरणविज्ञानस्वरूपं वच्मि वोऽग्रतः ॥८४॥

भाव तत्त्व के विज्ञान को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के अर्थ अन्तःकरण विज्ञान का स्वरूप आप लोगों के समीप कहता हूँ ॥८४॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमेतच्चतुर्विधम् ।  
अन्तःकरणमस्तीति वित्त यूयं पितृव्रजाः ! ॥८५॥



हे पितृगण ! अन्तःकरण के चार भेद हैं, ऐसा आपलोग जाने, यथा-  
मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार। ॥८५॥

मनसोऽन्तविभागोऽस्ति चित्तञ्चाहकतिधियः ।  
मायापाशैदृढैवद्भ्या योषित संसारगोचरम् ॥८६॥

यथा संसारिभिर्जीवैः कार्यं कारयतेऽनिशम् ।  
तथा चित्तं मनो बुद्धिमहंकारो नियम्य च ॥८७॥

कार्यं कारयते शश्वनानावैचित्र्यसङ्कुलम् ।  
संस्कारानुचरा जीवा वर्तन्ते सर्वथा खलु ॥८८॥

चित्त मन का अन्तर्विभाग है और अहंकार बुद्धि का अन्तर्विभाग है।  
संसारी जीवों को जिस प्रकार स्त्री दृढ माया रस्सियों से बांधकर उनसे  
अहर्निश संसार का कार्य कराती है उसी प्रकार चित्त मन को और  
अहङ्कार बुद्धि को नियमन करके निरन्तर माना वैचित्र्यपूर्ण काम  
कराया करते हैं। जीव सर्वथा ही संस्कारों के दास हैं ॥८६-८८॥

वासनोत्पन्नसंस्कारा अभिवृद्ध्यन्ति प्राणिनः ।  
आसक्तिरेव मूलञ्च बन्धनस्यास्य कारणम् ॥८९॥

वासना से उत्पन्न संस्कार जीवों को जकड़ रखते हैं, आसक्ति ही इस  
बन्धन का मूल कारण है ॥८९॥

संस्कारो वासनाजन्यः संस्कारात्कर्म जायते ।



वासनोत्पद्यते भूयः कर्मणो नात्र संशयः ॥९०॥

वासनायाः पुनर्विज्ञाः ! संस्कारों जायते ध्रुवम् ।  
सदैवं वासनाचक्रं जीवानाञ्च गतागतम् ॥९१॥

पूर्णायमानमस्तीह चक्रानेमियथा रथे।  
पूर्वजन्मार्जिता यादृक् कर्मसंस्कारसन्ततिः ॥९२॥

एतजन्मकृतानां वा कर्मणां यादृशी स्मृतिः ।  
अङ्किता जीवचित्तं स्यादासक्तिः स्याद्धि तादृशी ॥९३॥

वासना से संस्कार होता है, संस्कार से कर्म होता है, कर्म से पुनः वासना उत्पन्न होती है. हे विज्ञो ! वासना से पुनः संस्कार ही उत्पन्न होता है । इस संसार में इस प्रकार से वासना का चक्र और जीव का आवागमन रथ चक्रनेमि के समान सदा घूर्णायमान रहता है । पूर्व जन्मार्जित कर्मसंस्कार समूह अथवा इस जन्म के कर्म की स्मृति जैसी जीव के चित्त में अङ्कित रहती है उसी प्रकार को आसक्ति हुआ करती है। ॥९०-९३॥

तदासक्त्यनुरूपेषु विश्येषु निरन्तरम् ।  
प्रसज्जन्तेऽभितो जीवाः तदासक्त्यनुसारतः ॥९४॥

उसी आसक्ति के अनुसार जीव उसी आसक्ति सम्बन्धीय विषयों में निरन्तर चारों ओर से जकड़े रहते हैं ॥९४॥

आसक्तिश्चित्तसाहाय्यान्मनस्युत्पद्यते ध्रुवम् ।  
दम्पत्योः सङ्गमाल्लोके मनश्चित्तस्वरूपयोः ॥९५॥

आसक्तेजीयते जन्म नात्र कार्या विचारणा ।  
प्रजातन्तुं यथा पुत्रः संरक्षँसल्लभते पितुः ॥९६॥

तस्याधिकारमासक्तिविभ्राणा विषयाँस्तथा ।  
सृष्टिं वर्द्धयते शश्वदिह दैवीश्च मानवीम् ॥९७॥

आसक्ति चित्त की सहायता से मन में ही उत्पन्न होती है। मन और चित्तरूपी स्त्री पुरुष के संगम से संसार में आसक्ति का जन्म होता है। इसमें विचार नहीं करना चाहिये। पुत्र जिस प्रकार पिता के प्रजातन्तु की रक्षा करके पिता के अधिकार को प्राप्त होता है उसी प्रकार आसक्ति इस संसार में विषयों को धारण करती हुई देवी और मानवी सृष्टि को विशेष रूपसे अग्रसर करती है ॥९५-९७॥

बुद्धिराज्यस्य सिद्धान्तमपरं वित्त किन्त्व हो ।  
बुद्धयहङ्कारसंयोगादभावतत्त्वोदयो भवेत् ॥९८॥

अहो! किन्तु बुद्धिराज्य का सिद्धान्त और है ऐसा जानो। अहङ्कार और बुद्धि के संगम से भावतत्व का उदय होता है ॥९८॥

भावोऽपि द्विवियो ज्ञेयः शुद्धाशुद्धप्रभेदवः ।  
भावोऽशुद्धस्तयोबुद्धिं विधत्ते विषयाकृतिम् ॥९९॥





शुद्ध और अशुद्ध भेद मे भाव भी द्विविध हैं सो जानो। उनमें से अशुद्ध भाव बुद्धि को विषयवत् कर देता है ॥९९॥

शुद्धो भावः क्रमाचित्तं कुर्वाणो निर्मलं तथा ।  
बुद्धिं ब्रह्मपदं नूनं नयच्छान्तिं प्रयच्छति ॥१००॥

और शुद्ध भाव क्रमशः अन्तःकरण को मल रहित करता हुआ बुद्धि को ब्रह्मपद में पहुंचाकर ही शान्ति प्रदान करता है ॥१००॥

नन्दासक्तेर्वशा जीवा अथवा भावनोदिताः।  
एतत्तत्त्वद्रयस्यैव साहाय्यात्कर्म कुर्वते ॥१०१॥

कायिकं याचिकञ्चैव तथा मानसमेव च ।  
आसक्तौ किन्तु वैवश्यं भावे स्वातन्त्र्यमस्ति ह ॥१०२॥

जीव या तो आसक्ति के वशीभूत हो या भावप्रणोदित होकर ही, इन्हीं दो तत्वों की सहायता से ही शरीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्म करते हैं। आसक्ति में विवशता है परन्तु भाव में स्वाधीनता है ॥१०१-१०२॥

आनन्याद्विषयाणान्तु बहुशाखासमन्विता ।  
आसक्तिर्विद्यते नूनं शुद्धो भावो न तादृशः ॥१०३॥

आसक्ति बहु शाखा युक्त ही है क्योंकि विषय अनन्त हैं परन्तु शुद्धभाव वैसा नहीं है ॥१०३॥



एकाद्वैतदशां नेतुभीष्टेऽसौ नात्र संशयः ।  
यतो ब्रह्मपदं विज्ञाः ! विद्यनेऽद्वैतमेव हि ॥१०४॥

वह एक अद्वैत दशा को प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं;  
क्योंकि हे विज्ञो! ब्रह्मपद अद्वैत ही है ॥१०४॥

आसत्या कार्यकर्तारो जीवाः प्रारब्धयोगतः ।  
श्रीगुरोर्देवतानां वा प्रमादादेव सर्वथा ॥१०५॥

पाशतुल्याद्धि विषयात् स्वान्निवर्तयितुं क्षमाः ।  
अन्यथा विषये तेषां प्रक्तिसत्त्व निश्चिता ॥१०६॥

आसक्ति से काम करनेवाले जीव सर्वथा प्रारब्ध की सहायता,  
श्रीगुरुदेव की कृपा अथवा देवताओं की कृपा से ही पाशतुल्य विषय  
से अपने को बचा सकते हैं, नहीं तो उसमें उनका फंसना निश्चित है  
॥१०५-१०६॥

किन्तु शुद्धस्य भावस्य साहाय्यात्कार्यकारिणः ।  
भाग्यवन्तो न सज्जन्ते विषयेषु कदाचन ॥१०७॥

परन्तु शुद्ध भाव की सहायता से कर्म करने वाले भाग्यवान को  
विषयों में कदापि नहीं फंसना चाहिए ॥१०७॥

उत्तरोत्तरमेतेषां सर्वथोर्दध्वगतिभवेत् ।

संगृहीता हि संस्काराः पूर्वजन्माने यादृशाः ॥१०८॥

आसक्तिस्तादृशी जीवे प्रादुरेप्यनि निश्चितम् ।  
तस्या एवानुसारेण जीववर्गे जनिष्यते ॥ १०९ ॥

हेयोपादेयताज्ञानं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।  
आसक्तिमूलके चैवमसद्भावे प्रसज्य वै ॥११०॥

जीवो बन्धदशातः स्वं रक्षितुं नैव शक्यति ।  
सम्बद्धेन मया साई सद्भावेन तु संयुतः ॥१११॥

यत्कर्म कुरुते जीवः सततं भावशुद्धितः ।  
हेतुतां बहते विज्ञाः ! मुक्तेस्तत्कर्म निश्चितम् ॥११२॥

उत्तरोत्तर उनकी सर्वथा अवगति होती रहती है। जीव ने पूर्व जन्म में जैसे संस्कार संग्रह किये हैं उसी के अनुसार उसमें आसक्ति प्रकट होगी और उसी आसक्ति के अनुसार जीवों में हेय और उपादेय का विचार उत्पन्न होगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं है और इस प्रकार से आसक्ति मूलक असदुभाव में फंसकर ही जीव बन्धन दशा से अपने को बचा नहीं सकेगा। परन्तु हे विज्ञो! सत्भाव जिसका सम्बन्ध मेरे साथ है उसके साथ युक्त होकर निरन्तरं भावशुद्धि द्वारा जो कर्म जीव करता है वह कर्म अवश्य ही मुक्ति का कारण होता है। ॥१०८-११२॥

पापकर्माप्यतः पुण्यं सद्भावेन समन्वितम् ।  
एष मे निश्चयो विज्ञाः ! एषा ये धारणाऽस्त्यलम् ॥११३॥

इस कारण सद्भावसे युक्त पापकर्म भी पुण्य हो जाता है हे विज्ञो !  
यह मेरा निश्चय है। और मेरी यही धारणा है। ॥११३॥

धर्मोऽस्ति मम सूक्ष्मातिसूक्ष्मशक्तिः पितृव्रजाः !।  
नाऽयं स्थूलपदार्थोऽस्ति निखिलेन्द्रियगोचरः ॥११४॥

हे पितृवृन्दो ! धर्म मेरी सूक्ष्माति सूक्ष्म शक्ति है, यह सभी इन्द्रियो से  
जानने योग्य स्थूल पदार्थ नहीं है। ॥११४॥

नास्य स्थूलपदार्थेन सम्बन्ध स्थूल इष्यते ।  
भावेन हि यदाऽधर्मं धर्मेण परिणम्यते ॥११५॥

अधर्मस्यापि धर्मे वै परिणामो यदा भवेत् ।  
एष एव तदा धर्म-सूक्ष्मत्वपरिचायकः ॥११६॥

और न इसका स्थूल पदार्थ से स्थूल सम्बन्ध है । जब भाव से ही धर्म  
अधर्म और अधर्म धर्म में निश्चय ही परिणत होता है तो यही धर्म के  
सूक्ष्म स्वरूप का परिचायक है। ॥११५-११६॥

मम शक्तिर्दिधा भिन्ना विद्याऽविद्यामभेदतः।  
धर्माधर्मसुसम्बन्धस्ताभ्यां सार्द्धं हि विद्यते ॥११७॥

मेरी शक्ति के विद्या और अविद्या नामी, दो भेदों के साथ ही धर्म और  
अधर्म का सम्बन्ध है ॥ ११७ ॥

एतस्यानुभवं सम्यग्धर्मज्ञा एवं कुर्वते ।  
संवर्द्धयत आसक्तिर्नन्वसद्भावमलिका ॥११८॥

अविद्यायाः सदा विज्ञाः ! प्रभावं भूरिशो भवे ।  
किन्तु मद्युक्तसद्भावात्मकं कर्म निरन्तरम् ॥११९॥

अल वर्द्धयते विद्याप्रभाव जगतीतले ।  
भावप्रभाव एतावान्महानस्ति पितृव्रजाः ! ॥१२०॥

वलादयस्य जड़ो याति चैतन्यं महदद्भुतम् ।  
जड़ायामपिमूर्तौ वै येनैवाविर्भवाम्यहम् ॥१२१॥

इसका धर्मज्ञ व्यक्ति ही सम्यक् अनुभव करते हैं । हे विज्ञो ! संसार में असद्भाव मूलक आसक्ति सदा अविद्या के प्रभाव को अत्यन्त ही बढ़ाती है किन्तु मुझसे युक्त सद्भावात्मक कर्म निरन्तर जगत में विद्या के 'प्रभाव को ही वृद्धि करते हैं । हे पितृगण ! भाव का प्रभाव इतना महान् है कि उसके बल से जड़ महाभुत चैतन्य को प्राप्त होता है जिस कारण से ही मैं जड़ मूर्ति में भी निश्चय प्रकट होता हूँ ॥११८-१२१॥

अससमापि सत्यं स्यात् क्तं जीवहिताय वै ।  
अधर्मो जायते धर्मः पशुहिंसा यथाऽवरे ॥१२२॥

मिथ्या भी सत्य हो जाता है जो कि जीवों के हित के लिये ही कहा गया हो । अधर्म धर्म हो जाता है, यथा-यश में पशुहिंसा ॥१२२॥



यात्येवं भावसम्बन्धञ्चितन्यं जड़तामिह ! ।  
सत्यं मिथ्या भवेद्धर्मो जायतेऽधर्मरूपभाक् ॥१२३॥

इस प्रकार इस संसार में भाव के सम्बन्धसे चैतन्य जड़ सत्य असत्य  
और धर्म अधर्म हो जाता है ॥ १२३ ॥

भावशुद्धिसमायुक्तमसत्कर्मोप्यतो ध्रुवम् ।  
आपद्धर्मं भजत्येव सद्धर्मत्वं न संशयः ॥१२४॥

विधत्तेऽदश्च जीवानां मङ्गलं परमं सदा ।  
गतिः सूक्ष्मास्ति धर्मस्य भवन्तोऽतः पितृवजाः! ॥ १२५ ॥

कुर्युश्चेत् कर्मा मचित्ता भावशुद्धिपुरस्सरम् ।  
अधिकुर्युस्तदावश्यं पूर्णं धर्मं सनातनम् ॥१२६॥

इसी करण भावशुद्धियुक्त असत् कर्म भी आसद्धर्म में निःसन्देह  
सद्धर्मरूप में परिणत होकर ही जीवों के लिये सदा परम मङ्गल  
विधायक होता है। धर्मकी गति सूक्ष्म है अतः हे पितृगण! आप सब  
भावशुद्धि पूर्वक भगतचित्त होकर यदि कर्म करोगे तो अवश्य  
सनातन धर्म के पूर्णाधिकार को प्राप्त कर सकोगे। ॥१२४-१२६॥

मन्त्राणां प्रणवः सेतुर्यथा मन्त्रच्युति किल ।  
अपनोद्याशु सम्पूर्णे दत्ते मन्त्राधिकारिताम् ॥१२७॥



जिस प्रकार प्रणव मन्त्रों का सेतु है, वह मन्त्रों में कोई त्रुटि रहने से उस को शीघ्र ही दूर करके मन्त्र का पूर्णाधिकार प्रदान करता है ॥१२७॥

तथैव भावसंशुद्ध्या शक्तिधर्मास्य धारिका ।  
सन्तिष्ठते सदाऽक्षुण्णा नितरामूर्द्धध्वगामिनी ॥१२८॥

उसी प्रकार भावशुद्धि द्वारा सदा धर्म की उद्धर्व गामिनी धारिका शक्ति सम्पूर्ण रूप से अक्षुण्ण बनी रहती है ॥१२८॥

कदाचिदत एवाऽलमापद्धर्मस्य निर्णये ।  
अधर्मेणापि धर्मस्य स्वरूपे परिणम्यते ॥१२९॥

इसी कारण आपद्धर्म के निर्णय करने में कभी कभी अधर्म भी धर्मरूप में ही परिणत हो जाता है ॥१२९॥

यदा कश्चिद्विशेषस्तु धर्मः शक्तिमवाप्नुयात् ।  
अधिकां भावसंशुद्ध्या कोटिं साधारणस्य सः ॥१३०॥

असाधारणधर्मास्याधिकारं लभते वहन् ।  
एतावन्ननु दुर्गेयं रहस्यं धर्मगोचरम् ॥१३१॥

आस्ते पितृव्रजाः ! कोऽपि यत्र शक्नोति वेदितुम् ।  
धर्माधर्मौ सुनिर्णेतुं नैव कश्चिदयथार्थतः ॥१३२॥

समीष्टे वा गति वेत्तुं धर्मस्यास्य कथञ्चन ।



ऋते पूर्णावतारं हि भक्तान वा ज्ञानिनो विना ॥१३३॥

और जब कोई विशेष धर्म भावशुद्धि के द्वारा अधिक शक्ति लाभ करे तब वह साधारण धर्म की कोटि में पहुंचकर असाधारण धर्म के अधिकार को प्राप्त करता है। हे पितृगण ! धर्मका रहस्य इतना दुर्ज्ञेय है कि जिसको कोई भी नहीं जान सकता। मेरे ज्ञानी भक्त और मेरे पूर्णावतारों के अतिरिक्त कोई भी यथार्थ रूप से धर्म अधर्म का निर्णय नहीं कर सकता और न किसी प्रकार धर्म की गति को जानने वाला ही हो सका है ॥१३०-१३३॥

याथार्थ्यान्निर्णय कर्तुं धर्माधर्मव्यवस्थितेः ।  
अतो वेदाः प्रमाणानि तन्मता आगमास्तथा ॥१३४॥

इसी कारण धर्म अधर्म की व्यवस्था के यथार्थ निर्णय करने में वेद और वेदसम्मत शास्त्र ही प्रमाण हैं ॥१३४॥

सर्वे विशेषधर्मा स्युः प्रायशोऽभ्युदयप्रदाः ।  
तथा साधारणो धर्मो निःश्रेयसकरोऽखिलः ॥१३५॥

साधारणतः सभी विशेषधर्म अभ्युदयप्रद और सभी साधारण धर्म निःश्रेयसप्रद हैं ॥१३५॥

किन्तु साधारणो धर्मो दुर्गेयोऽज्ञानिभिः सदा ।  
आस्ते विशेषधर्मस्तु सर्वथा भीतिवर्जितः ॥१३६॥





परन्तु अज्ञानियों के निकट साधारण धर्म सदा दुर्ज्ञेय है और विशेष धर्म सर्वथा भयरहित है ॥१३६॥

धर्मात्मा वै यदा धर्मे विशेषं पालयन मुहुः ।  
नूनमस्य पराकाष्ठां धर्मस्य लभते हिताम् ॥१३७॥

साधारणस्य धर्मस्य निखिलव्यापकं तदा ।  
स्वरूपं ज्ञातुमीष्टेऽसौ सर्वजीवहितमदम् ॥१३८॥

विशेष धर्म का पालन करते करते जब धर्मात्मा विशेष धर्म की हितकारी पराकाष्ठा को अवश्य प्राप्त कर लेता है तब वह साधारण धर्म के सर्वव्यापक और सर्वजीव हितकारी स्वरूप को समझने में समर्थ होता है ॥१३७-१३८॥

तदन्तिके तदा सर्वे धर्ममार्गा भजन्सहो ।  
वात्सल्यं हि यथा पुत्राः पौत्राश्च सन्निधौ पितुः ॥१३९॥

अहो ! तब उसके निकट सब धर्ममार्ग ऐसे ही वात्सल्य को प्राप्त होते हैं जैसे पिता के सम्मुख उसके पुत्र पौत्र वात्सल्य को प्राप्त हुआ करते हैं। ॥१३९॥

ममैव ज्ञानिनो भक्ता धर्मे साधारणं किल ।  
अधिकुर्त्त क्षमन्ते वै पूर्णतो नात्र संशयः ॥१४०॥



मेरे ज्ञानी भक्त ही साधारण धर्म के पूर्ण अधिकारी निश्चय ही हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥१४०॥

मद्गता ज्ञानिनो विज्ञाः ! धर्मज्ञानाब्धिपारगाः।  
सार्द्धं केनापि धर्मेण विरोध नैव कुर्वते ॥१४१॥

हे विज्ञों! मेरे धर्मज्ञान रूप समुद्र के पारगामी ज्ञानी भक्त किसी भी धर्म के साथ विरोध नहीं करते हैं ॥१४१॥

साधारणे विशेषे च धर्मेऽसाधारणे तथा ।  
सम्प्रदायेषु सर्वेषु भक्ता ज्ञानिन एव मे ॥ १४२॥

ममैवेच्छास्त्ररूपिण्या धर्मशक्तेः स्वधाभुजः !।  
सर्वव्यापकमद्वैतं रूपं नन्वीक्षितुं क्षमाः ॥१४३॥

संसारेऽत्राभिधीयन्ते श्रीजगद्गुरवो ध्रुवम् ।  
लोकाभ्युदयसिद्धयर्थं कल्याणार्थश्च व सदा ॥१४४॥

अतिगुह्यं रहस्यं वो वेदतात्पर्यबोधकम् ।  
भवद्भक्त्या प्रसन्नेन पितरो वर्णितं मया ॥१४५॥

हे पितरो! मेरे ज्ञानी भक्त ही विशेष धर्म, साधारण धर्म और असाधारण धर्म तथा समस्त धर्मसंप्रदायों में मेरी ही इच्छारूपिणी धर्मशक्ति का एक सर्वव्यापक अद्वैतरूप दर्शन करने में समर्थ होकर इस संसार में निश्चय ही जगद्गुरु नाम से अभिहित होते हैं। हे पितृगण ! मैंने समस्त संसार के अभ्युदय और आप लोगों के सदा



कल्याणार्थ वेद के तात्पर्यो का बोधक अतिगुह्य रहस्य आपकी भक्ति से प्रसन्न होकर आपसे वर्णन किया है ॥१४२-१४५॥

संवर्द्धन्तां चिरं विज्ञाः ! भवत्कल्याणसम्पदः ।  
धर्मवद्विश्च संसारे जायतां नितरां मुदे ॥ १४६ ॥

हे विज्ञो ! आप लोगों की कल्याण सम्पत्ति चिरकाल बढ़े और संसार में प्रसन्नता के लिये निरन्तर धर्म की वृद्धि हो ॥१४६॥

एतद्धर्मरहस्यं हि पुष्णीत हृदये सदा ।  
एवं कृते मनुष्याणामार्यदृष्टावपि द्रुतम् ॥१४७॥

रहस्य पुनरेतद्वै प्रकाशं स्वयमेप्यति ।  
वर्णाश्रमाख्यधर्मैऽस्मिन् प्रायो लुप्ते भवसपि ॥१४८॥

बीजञ्चेद्रक्षितं तर्हि सम्यक् कालप्रभावतः ।  
अनार्यत्वेन युक्तायां सत्यां सृष्टावपि ध्रुवम् ॥१४९॥

कालवेगप्रभावेण मानवानां स्वाभुजः ! ।  
आर्यवीर्यसुरक्षातः प्रजातन्तुः सुरक्षितः ॥१५०॥

वर्णाश्रमेण धर्मेण युक्तः शुद्धो भविष्यति ।  
यथाकालं यथादेशं यथापात्रं कदाचन ॥१५१॥

सर्वाऽविरुद्धं सर्वेषां मङ्गलायतनं हितम् ।  
सार्वभौमं पुनर्लोके धर्मज्ञानं प्रकाशयेत् ॥१५२॥

आप इसी धर्म रहस्य का सदा हृदय में पोषण करो, ऐसा करने पर मनुष्यों की आर्य सृष्टि में भी यह रहस्य शीघ्र पुनः स्वयं ही प्रकाशित होगा। वर्णाश्रम धर्म के लुप्तप्राय हो जाने पर भी हे पितृगण! यदि उसका बीज काल प्रभाव से सुरक्षित होगा तो मनुष्य सृष्टि के कालवेग के प्रभाव से अनार्यभाव धारण करने पर भी आर्यवीर्य की सुरक्षा रहने से वर्णाश्रम धर्मयुक्त शुद्ध प्रजातन्तु की अवश्य सुरक्षा होगी और यथाकाल, यथादेश और यथापात्र किसी समय सर्वाविरुद्ध, सर्वमङ्गलालय हितकर और सार्वभौम धर्मज्ञान का पुनः जगत में प्रकाश होगा ॥१४७-१५२॥

भावशुद्धे रहस्यं यत् पुरा युष्मभ्यमुक्तवान् ।  
कालप्रभावतो जाते भय आर्यप्रजास्वहो ! ॥१५३॥

वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य क्षतेरतिमहसपि ।  
आपद्धर्मस्य साहाय्याभावशुद्धचैव सत्तमाः ॥१५४॥

सर्वथा निश्चितं सम्यक् तस्य रक्षा भविष्यति ।  
अतः पितृगणाः ! यूयं निर्भयास्तत्पराः खलु ॥१५५॥

पालयचं निजं नूनं कर्त्तव्यं हितसाधकम् ।  
भवतां मंगलं येन लोकस्यापि भविष्यति ॥१५६॥

मैंने जो भावशुद्धि का रहस्य पहले तुम से कहा है, अहो कालप्रभाव से आर्य प्रजा में वर्णाश्रमधर्म की हानि का अत्यन्त महान् भय उत्पन्न



होनेपर भी हे महानुभावो ! भावशुद्धि द्वारा ही आपकी सहायता से उसकी सभी प्रकार से अवश्य सुरक्षा होगी। इस कारण हे पितृगण ! तुम सभी भयरहित और तत्पर होकर ही अपने हितकर कर्तव्य का अवश्य पालन करो जिससे तुम्हारा और समस्त संसार का भी मंगल होगा ॥१५३-१५६ ॥

इति श्रीशम्भु गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे  
सदाशिवपितृसंवादे धर्मनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्री शम्भुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र में  
सदाशिव पितृसंवादात्मक धर्मनिरूपण नामक प्रथम अध्याय  
समाप्त हुआ।



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ द्वितीयोऽध्याय : द्वितीय अध्याय

पिण्ड दृष्टि निरूपणम्

पितर ऊचुः ॥१॥

पूर्णस्वरूपं धर्मस्य जगत्यां जगदीश्वर ! ।  
सार्वभौम प्रचार्येत लोककल्याणदं कथम् ॥२॥

हे जगदीश्वर ! धर्म का लोककल्याणकारी सार्वभौम पूर्ण खस्वरुप  
जगत में कैसे प्रचारित हो सकता है ॥२॥

भोः सर्वेश्वर ! भक्तानां जीवानां हे त्रितापहृत् ।  
धर्मास्यैवंविधोदारमूर्तेश्च दर्शनं कथम् ॥३॥

शक्नुयाजीवपिण्डेषु भवितुंवा महेश्वर! ।  
वर्णाश्रमाख्यधर्मास्य सम्भाव्यताऽथवा कथम् ॥४॥

यथावत्सम्प्रचारोऽस्मिँलोके शोकविमोचन ! ।  
तास्मिन वर्णाश्रमे धर्मे वाधनोपस्थितौ ननु ॥५॥

बीजंवा तस्य धर्मस्य रक्षितं स्यात् कथं विभो ।  
उपस्थिते सुकालेऽस्य येन वृद्धिर्भवेत्पुनः ॥६॥

और हे भक्तजीव त्रितापहारी ! हे सर्वेश्वर ! हे महेश्वर ! धर्मकी ऐसी उदार मूर्ति का दर्शन कैसे जीवपिण्ड में हो सकता है। अथवा हे शोकविमोचन ! वर्णाश्रम धर्म का यथार्थ प्रचार इस लोक में कैसे सम्भव है और यदि उस वर्णाश्रम धर्म में बाधा पहुंचने लगे तो हे विभो ! उस धर्म की बीजरक्षा कैसे हो सकती है जिससे सुसमय उपस्थित होने पर पुनः उसकी वृद्धि हो सके ॥३-६॥

जीवसृष्टिरहस्ये वा मानवानाञ्च किंविधम् ।  
जन्ममृत्युगतं नाथ ! वैलक्षण्यं सुगोपितम् ॥७॥

और हे नाथ ! जीव सृष्टि रहस्य में मनुष्यों की जन्ममृत्यु की कैसी विचित्रता रक्खी गई है ॥७॥

सहायकाः कथं स्याम मानवानां क्रमोन्नतौ ।  
सामञ्जस्यं भवत्सृष्टेन रक्षितुमीशमहे ॥८॥

मनुष्यों की क्रमो उन्नति में हम कैसे सहायक हो सकते हैं जिससे आपकी सृष्टि का सामञ्जस्य हम रक्षा करने में समर्थ हो ॥८॥

भावत्रयगतं ह्येतद्रहस्यं सर्वमुत्तमम् ।  
उपदिश्य प्रभो ! सम्यग्गम्मानय कृतार्थय ॥९॥



हे प्रभो! इस समय त्रिविध भागवत उक्त सर्वोत्तम रहस्यों का हमें भलीभांति, उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये ॥९॥

सदाशिव उवाच ॥१०॥

सदाशिव बोले ॥१०॥

पितरो का शुभाकाङ्क्षं जगत्कल्याणकारिणीम् ।  
आलोक्यातिप्रसन्नोऽहं भवन्तो मे प्रिया यतः ॥११॥

हे पितृगण! जगत्कल्याणकारिणी आपकी शुभ कामना को देखकर मैं अति प्रसन्न हुआ है क्योंकि आपलोग मेरे प्रिय हैं ॥११॥

सानन्दं पूरयिष्येऽतोऽमिलापं वः शुभावहम् ।  
नवाधिभौतिकं ज्ञानं कल्याः! स्थूलजगद्गतम् ॥१२॥

तथाऽऽधिदैविकं ज्ञानं सूक्ष्मदैवजगद्गतम् ।  
अध्यात्मराज्यसम्बद्धमात्मज्ञानं तथैव च ॥१३॥

प्रोक्तमेवं विधं ज्ञानं त्रिविधं न प्रकाशते ।  
मानवानां समाजेऽलं युगपदयावदेव ह ॥१४॥

ज्ञानज्योतिर्नि जागर्ति तावत्पूर्णञ्च सात्त्विकम् ।  
मत्यार्तः करणे नूनमिति मे दृढनिश्चयः ॥१५॥





इसलिये मैं आनन्दपूर्वक आपकी शुभकामना को पूर्ण करूंगा। हे पितृगण !जब तक स्थूल जगत सम्बन्धीय आधिभौतिक ज्ञान, सूक्ष्म देवी जगत्सम्बन्धीय अधिदैविक ज्ञान और उसी प्रकार अध्यात्म राज्यसम्बन्धीय आत्मज्ञान, इस प्रकार के उक्त त्रिविधज्ञान का विकास एक ही काल में सम्यक् रूप से मनुष्य समाज मे नहीं होता है तब तक पूर्ण सात्विक ज्ञान की ज्योति मनुष्य अन्तःकरणमें प्रतिभासित नहीं ही होती है यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥१२-१५॥

यावन्निखिलभूतेष्वविभक्तञ्चैक्यदर्शकम् ।  
सदा पूर्ण प्रकाशेताधिकं ज्ञानं न सात्त्विकम् ॥१६॥

मानवानां समाजेषु सार्वभौमं विराडलम् ।  
नावन्नैवावबुध्येत स्वरूपं धर्मगोचरम् ॥१७॥

जब तक सर्वभूतों में अविभक्त और सब भूतों में ऐक्यभाव को दिखाने वाला, सब दशा में पूर्ण रहने वाला सात्विक ज्ञान मनुष्य समाज में अधिक रूप से प्रकाशित नहीं होता है तब तक धर्म के सार्वभौम विराट् स्वरूप का सम्यक् अनुभव मनुष्यसमाज नहीं ही कर सका है ॥१६-१७॥

कायविद्या चिकित्सा च शल्यविद्या रसायनम् । उद्भिद्विद्वेदाण्डजानां  
हि तत्त्वविद्या तथैव च ॥१८॥

पाशवी तत्त्वविद्या च तत्त्वाविद्या च मानवी ।  
क्षिखपूतेजोमरुदव्योमतत्त्वविद्या तथैव च ॥१९॥



नाना पदार्थविद्या मे सन्ति नूनं सहायिकाः ।  
आधिभौतीशक्तिविद्या ज्ञानेखल्वाधिभौतिके ॥२०॥

मेरे अधिभौतिक ज्ञानमें शारीरिक विद्या, चिकित्सा विद्या, शल्यविद्या, रसायनविद्या, उद्भिज तत्त्वविद्या, स्वेदज तत्त्वविद्या, अण्डज तत्त्वविद्या. पशु तत्त्वविद्या, मनुष्य तत्त्वविद्या, भूत तत्त्वविद्या, आकाश तत्त्वविद्या, जल तत्त्वविद्या, वायु तत्त्वविद्या, अग्नि तत्त्वविद्या, आधिभौतिक शक्तिविद्या, ये अनेक पदार्थ विद्याएँ अवश्य सहायक हैं ॥१८-२०॥

आविष्कारस्तथा ज्ञानलामो वै वर्तते ध्रुवम् ।  
आसां पदार्थविद्यानां सुलभो नात्र संशयः ॥२१॥

इन पदार्थ विद्याओं का आविष्कार और ज्ञान लाभ करना अवश्य ही सहजसाध्य है इसमें सन्देह नहीं ॥ २१ ॥

आसाद्यन्ते यतो नून पुरुषार्थस्तु केवलेः ।  
लौकिकैरेच लोकेषु विद्या उक्ता इमा द्रुतम् ॥२२॥

क्योंकि उक्त यह सभी विद्याएँ केवल लौकिक पुरुषार्थ से ही संसार में अवश्य ही शीघ्र प्राप्त होती हैं ॥२२॥

दुर्ज्ञैः पितरः ! किन्तु सूक्ष्मराज्यविभूतिभिः ।  
पूर्णाऽधिदैवविद्याऽत्तिगुह्या दुर्जयत्रैभवा ॥२३॥

परन्तु हे पितृगण! दुर्गेय सूक्ष्म राज्य की विभूतियों से पूर्ण अधिदेव विद्या प्रतिगुह्य और दुर्गेय वैभवा है ॥२३॥

यस्य किञ्चिद्रहस्यं वः संक्षेपावर्णयाम्यहम् ।  
सावधानभवद्भिश्च श्रूयतां पितरोऽधुना ॥२४॥

जिसका कुछ रहस्य संक्षेपसे मैं आपसे कहता हूँ हे पितृगण ! इस समय आपलोग सावधान होकर सुनो ॥२४॥

असावेकाऽद्वितीयाऽपि श्यामा में प्रकृतिः सती ।  
स्थलात्सूक्ष्मात्तुरीयाच कारणाद्रूपतस्तथा ॥२५॥

चतुर्धा संविभक्ताऽलं राजते विश्वमोहिनी ।  
सन्देहो नात्र कर्तव्यो विस्मयो वा कदाचन ॥२६॥

यह विश्वमोहिनी मेरी प्रकृति श्यामा एक और अद्वितीय होकर भी स्थूल सूक्ष्म कारण और तुरीय रूप से चतुर्धा विभक्त होकर विराजमान है, इसमें संदेह अथवा विस्मय कभी नहीं करना चाहिये ॥२५-२६॥

स्थूलायाः प्रकृतेः सप्ताधिकाराः सन्ति सर्वथा । तेषामेवाधिकाराणां  
गूढः शक्तिमयो महान् ॥२७॥

रहस्यसङ्घः पितरो वर्तते सम्भकाशकः ।  
आधिभौतिकवोधातिगृहाविज्ञानविस्तृतेः ॥२८॥

स्थूल प्रकृति के सर्वथा सप्त अधिकार हैं उन्हीं सप्त अधिकारों के शक्तिमय महान् गहन रहस्यसमूह हे पितृगण ! आधिभौतिक ज्ञान के अतिगुह्य विज्ञानविस्तार के प्रकाशक हैं ॥२७-२८॥

सप्तधा शक्तिविज्ञानं स्थूलायाः प्रकृतेरपि ।  
जगत्यां प्रायशो नैव सम्भवेत्सम्मकाशितम् ॥२९॥

स्थूल प्रकृति के सप्तविध शक्ति विज्ञान का भी जगत में प्रकाशित होना प्रायः सम्भव नहीं ही होता है। ॥२९॥

सन्सेवातीव गुह्यानि रहस्यान्यपराणि तु ।  
नैवात्र संशयः कोऽपि कर्त्तव्यः पितरो धुधाः ! ॥३०॥

अन्यान्य रहस्य तो अतिगुह्य ही हैं, हे विज्ञ पितृगण! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए ॥३०॥

सूक्ष्मकारणयोः शक्तयोर्विज्ञानौघः समुच्यते ।  
आधिदैविकसम्बन्धिज्ञानं नैवात्र संशयः ॥३१॥

सूक्ष्म शक्ति और कारण शक्ति के विज्ञानसमूह आधिदैविक ज्ञान कहाते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥३१॥

शक्तेस्तत्त्वं तुरीयाया वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरम् ।  
यदास्ते तद्विजानीत ज्ञानमध्यात्मसंज्ञकम् ॥३२॥

तुरीय शक्ति का जो मन वचन और बुद्धि से अतीत तत्त्व है उसको अध्यात्म ज्ञान जानना चाहिए ॥३२॥

अमीषां ज्ञानपुंजनां त्रिविधानामसंशयम् ।  
बोधो रहस्यवर्गस्य सुगमो नैव वर्तते ॥३३॥

इन त्रिविध ज्ञानसमूह के रहस्यों को समझना निःसन्देह ही सहज नहीं है ॥३३॥

ममैव ज्ञानिनो भक्ताः शक्नुवन्ति मुखं द्रुतम् ।  
रहस्यं ज्ञातुमेतेषां पितरो नात्र संशयः ॥३४॥

हे पितृगण ! मेरे ज्ञानीभक्त ही इनके रहस्य को अनायास शीघ्र समझने में समर्थ होते हैं इसमें सन्देह नहीं है। ॥३४॥

श्यामा त्रैगुण्यमव्यास्ते प्रकृतिर्मे स्वभावतः ।  
धर्मोऽस्ति त्रिगुणानाञ्च चाञ्चल्यं श्रुतिसम्मतः ॥३५॥

मेरी प्रकृति श्यामा स्वभाव से त्रिगुणमयी है और त्रिगुण का धर्म अस्थिरता है यह श्रुतिसम्मत है ॥३५॥

परिणामिन्यतो नित्यं प्रकृतिर्मेऽस्त्यसंशयम् ।  
तदा सा पोच्यते विद्या मां यदेवावलोकते ॥३६॥



इस कारण मेरी प्रकृति निःसन्देह सदा परिणामिनी रहती है। जब वह मेरी तरफ देखती है तब वह विद्या कहलाती है ॥३६॥

यदा बहिर्मुखीनाऽसौ प्रसूते जगद्भूतम् ।  
तदाऽविद्याभिधानेन नूनमेषाऽभिधीयते ॥३७॥

जब वह बहिर्मुखीन होकर अद्भुत जगत् प्रसव करती है तब ही वह अविद्या कहाती है ॥३७॥

प्रेमसात्प्रकृतेः स्वस्याः स्यामहं विश्ववीजदः ।  
त्रिविधानां हि देवानां भवेयं जनकोऽपि च ॥३८॥

मैं अपनी प्रकृति के प्रेम के वशीभूत होकर जगत का बीजदाता बन जाता हूँ और मैं ही विविध श्रेणी के देवताओं का जनक भी बन जाता हूँ ॥३८॥

त एव त्रिविधा देवा विश्वस्य त्रिविधा गतीः ।  
पालयन्ते तथा मृष्टीः सत्यमेतन्न संशयः ॥३९॥

वही विविध देवतागण जगत की त्रिविध दृष्टि और गति का संरक्षण करते हैं यह सत्य है इसमें सन्देह नहीं ॥३९॥

भिन्ना त्रिगुणवैचित्र्याच्छक्तिद्वैविध्य आत्मना ।  
दृष्टिगोचरतामेति श्यामाऽत्र जगतीतले ॥४०॥



श्यामा त्रिगुण वैचित्र्य से दो प्रकार की शक्ति में विभक्त होकर इस जगत में दिखाई देती है ॥४०॥

शक्ती त एव कथ्यते आकर्षणविकर्षणे ।  
रागद्वेषौ च पितरो नाऽत्र कश्चन संशयः ॥४१॥

उन्हीं शक्तियों को आकर्षण विकर्षण और राग द्वेष कहते हैं हे पितृगण ! इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४१॥

आद्ये स्थूलेऽपरौ सूक्ष्मौ विद्यते पितरो ध्रुवम् ।  
एतयोर्गुणसम्बन्धः प्रोच्यते साम्मतं मया ॥४२॥

हे पितृगण ! प्रथम स्थूल और दूसरी सूक्ष्म ही है। अब मैं इन दोनों शक्तियों का गुण सम्बन्ध कहता हूँ ॥४२॥

अस्ति रागो रजोमूलस्तथाऽऽकर्षणमेव च ।  
विकर्षणं तथा द्वेषस्तगोमूलश्च विद्यते ॥४३॥

आकर्षण और राग रजोमूलक और विकर्षण और द्वेष तमोमूलक हैं ॥४३॥

समन्वये द्वयोः सत्त्वगुणो नूनं विकाशते ।  
अतः समन्वयादेव तयोर्विश्वस्य धारिका ॥४४॥

विश्वं रक्षति मच्छक्तिः सात्त्विकी धर्मरूपिणी ।  
नित्या सा वर्तते नित्यं विश्वकल्याणकारिणी ॥४५॥

दोनों के समन्वय में ही सत्त्वगुण का विकास होता है इस कारण आकर्षण विकर्षण के समन्वय से ही जगत की धारक धर्मरूपिणी मेरी सात्त्विक शक्ति जगत की रक्षा करती है। यह नित्या और सर्वदा विश्व का कल्याण करनेवाली है ॥४४-४५ ॥

आरभ्य पितरोऽनेकग्रहोपाहतोऽखिलम् ।  
अण्वन्तं स्थितिमादत्ते तस्मादेव समन्वयात् ॥४६॥

हे पितरो! उसी समन्वय से अनेक ग्रह उपग्रह से लेकर परमाणु पर्यन्त सब स्थिति भाव को धारण करते हैं ॥४६॥

तथा समन्वयस्यैव दशायां द्वेषरागयोः ।  
जीवान्तःकरणे सत्त्वगुणस्यैव प्रकाशतः ॥ ४७ ॥

ज्ञानं विकाशते सम्यग् धर्मभाव उदेति च ।  
पुण्यः पुण्यप्रवाहो हि बहते नात्र संशयः ॥४८॥

उसी प्रकार रागद्वेष के समन्वय की दशा में ही सत्त्वगुण का विकाश जीव के अन्तःकरण में होने से ज्ञान का विकास और धर्मभाव का सम्यक् उदय हुआ करता है, पवित्र पुण्य प्रवाह ही बहता रहता है इसमें सन्देह नहीं ॥४७-४८॥

द्वे एव भवतः शक्ती आकर्षणविकर्षणे ।  
नारीधारासु जीवानां नृधारास्वपि सर्चतः ॥४९॥





यही दो आकर्षण और विकर्षण शक्तियां जीवों की स्त्री धारा और पुरुष धारा में सर्वत्र वर्तमान हैं ॥ ४६ ॥

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह ।  
तथा विकर्षण नृणां शरीरं स्यात्स्वरूपतः ॥५०॥

इस संसार में स्त्री शरीर आकर्षण रूपी और पुरुष शरीर विकर्षण रूपी ही है ॥५०॥

ब्रह्मानन्दानुभूतेः स्याल्लोभाव स्पर्शेन्द्रियेण वै ।  
दम्पतीसङ्गमः साक्षात्पवित्रः सात्त्विकः शुभः ॥५१॥

स्पर्श-इन्द्रिय द्वारा ब्रह्मानन्द अनुभव के लोभ से ही साक्षात् पवित्र सात्त्विक और शुभ स्त्री पुरुष का संगम होता है । ॥५१॥

सत्त्वभावमयः पुण्यो वर्तते सङ्गमक्षणः ।  
आधिदैविकपीठस्योत्पादको नात्र संशयः ॥५२॥

संगम का काल अतिपवित्र सत्त्वभावमय और अधिदेवपीठ-उत्पादक है इसमें सन्देह नहीं है ॥५२॥

विष्णुस्वरूपमादाय ब्रह्माण्डस्य स्थितिक्षणे ।  
ब्रमाण्डेस्मिन यथाऽऽकृष्टो विष्णुपीठस्वरूपिणि ॥५३॥



सन्तिष्ठे पितरो नूनं दम्पतीसङ्गमे तथा ।  
आकृष्यन्ते त्रिधा देवाः पीठस्योत्पादके स्वतः ॥५४॥

यथाकालं यथादेशं यथापात्रं तदाऽनयाः ।  
भवन्तः पितरस्तत्र रजोवीर्याश्रयेण हि ॥५५॥

जैसे है पितृगण ! ब्रह्माण्ड की स्थिति दशा में मैं विष्णुरूप धारण करके विष्णुपीठ रूपी इस ब्रह्माण्ड में आकृष्ट रहता है उसी प्रकार दम्पती की पीठ-उत्पन्नकारी संगम दशा में त्रिविध देवतागण स्वतः आकृष्ट हुआ करते हैं ॥५३-५५॥

आकृष्यन्ते वपुर्दातुं जीवाय स्थूलमद्रुतम् ।  
अन्ये देवगणा नेतुं शरीरैरातिवाहिकैः ॥५६॥

युक्ताञ्जीवगणान्स्तत्र सूक्ष्मदेहावलम्बिनः ।  
पूर्वभ्यो भोगलोकेभ्य आकृष्यन्ते न संशयः ॥५७॥

हे अनघ पितृगण ! उस समय आपलोग रजवीर्य की सहायता से ही यथादेश कालपात्र अद्भुत स्थूल शरीर जीव को प्रदान करने के अर्थ उस पीठ में आकृष्ट होते हो । अत्यान्य देवतागण आतिपाहिक देह युक्त सूक्ष्मदेहधारी जीवों को पूर्वभोग लोको से वहां पहुंचा देने के लिये निःसन्देह आकृष्ट होते हैं ॥५५-५७॥

रज शल्या ततस्तत्र तमःशक्तिः परास्यते ।  
तेन पीठे विनष्टे वै रजोजातबलाश्रयात् ॥५८॥

पतितस्यैव वीर्यस्य सहयोगेन सर्वथा ।  
नारीदेहे भवन्नूनं गर्भाधानं न संशयः ॥५९॥

वहां रजशक्ति तमशक्ति को परास्त कर लेती है उससे पीठका नाश होजाने पर ही रजोगुण के बल से पतित वीर्य के सर्वथा सहयोग से ही नारीदेह में ही निःसन्देह गर्भाधान हो जाता है ॥५८-५९॥

यथायोग्यं तदा यूयं जीवानां सूक्ष्मदेहिनाम् ।  
सन्निवासोपयुक्तानि स्थूलदेहगृहाण्यहो ॥६०॥

संयच्छय नयन्ते च जीवांस्तत्रैव निर्जराः ।  
पराजितं तमो नैव स्यात्तत्र रजसा यदि ॥६१॥

रजस्तमोभ्यां पितरो भावशुद्धिपुरस्सरम् ।  
अग्रेसरदभ्यां सततं सत्त्वं ज्ञानमयं प्रति ॥६२॥

नूनारीभेदरूपाच्च द्वन्द्वधर्मप्रभावतः ।  
लब्ध्वा बहिर्गनाभ्यां हि पराभक्तिं ममोत्तमाम् ॥६३॥

यदि सत्त्वे विलीयेत तद्याकृष्टा महर्षयः ।  
रहितं सृष्टिधर्मण कैवल्यं शाश्वतं, पदम् ॥६४॥

अनेनैवाध्वना गम्यमिति संसूचयन्त्यलम् ।  
नैवात्र संशयः कोऽपि विद्यते पितृपुङ्गवा ! ॥६५॥

उस समय आपलोग यथायोग्य' सक्ष्म शरीरधारी जीवों के रहने के उपयोगी यथायोग्य गृहरूपी स्थूल शरीर प्रदान करते हो और देवतागण जीवों को वहां ही पहुंचा देते हैं। यदि वहां तम को रज परास्त नहीं कर सके और हे पितरो! रज और तम भावशुद्धि पूर्वक ज्ञानमय सत्व की और निरन्तर अग्रसर हो और स्त्रीपुरुषभेद रुपी द्वन्द्व धर्म के प्रभाव से बचकर मेरी उत्तम पराभक्ति प्राप्त करके यदि सत्व में विलीन हो जाये तो ऋषिगण आकृष्ट होकर सृष्टिधर्म से रहित शाश्वत कैवल्यपद इसी मार्ग से प्राप्य है ऐसा भलीभांति बता देते हैं। हे पितृश्रेष्ठो । इसमें कोई संशय नहीं है ॥६०-६५॥

अधिदेवरहस्येन पूर्णस्यास्य पवित्रता ।  
पीठविज्ञानयोगस्य यावती प्रचरिष्यति ॥६६॥

तावन्मात्रोत्तमणिभुक्तैर्जीवैर्जनिष्यते ।  
जगत्यामिह सन्देहो विद्यते न स्वधाभुजः ! ॥६७॥

इस संसार में अधिदेव रहस्यपूर्ण इस पीठविज्ञान योग की पवित्रता जितनी प्रचारित होगी उतना ही उत्तम श्रेणी के जीवों का जन्म हो सकेगा हे पितरो! इसमें सन्देह नहीं है ॥६६-६७॥

उत्तमस्थूलदेहेषु दैवसम्पत्तिधारिणः ।  
प्रवेशं कर्तुमर्हन्ति जीवाः सौभाग्यशालिनः ॥६८॥

उत्तम स्थूल शरीरों में देवीसम्पत्तिधारी सौभाग्यशाली जीव पहुंच सकते हैं ॥६८॥



तत्त्वज्ञा एव ते देव्याः सम्पत्तेरधिकारिणः।  
नूनं धर्मस्य नित्यस्य सार्वभौमस्वरूपकम् ॥६९॥

वेदितुं शक्नुवन्तीह नात्र कार्या विचारणा ।  
भूयो भेदानराणाञ्च नारीणां वो ब्रवीम्यहम् ॥७०॥

यहां देवीसम्पत्ति के अधिकारी तत्त्वज्ञानी वे जीव ही सनातनधर्म के सार्वभौम स्वरूप को समझने के निःसन्देह अधिकारी हो सकते हैं इसमें कुछ विचार करने की बात नहीं है, पुनः मैं नर नारियों का भेद आपलोगों से कहता हूँ ॥६९-७०॥

त्रिधा ज्ञेया नरा नार्यो भेदात्तैगुण्यगोचरात् ।  
भवन्ति पितरस्तेषु सात्त्विका गुणमोहिताः ॥७१॥

राजसा रूपमुग्धाश्च तामसाः काममोहिताः ।  
मिथुनीभूतकाले हि जायते त्रिविधा दशा ॥७२॥

प्राकृताऽऽद्या दशैवास्ति द्वितीया विकृतात्मिका । तृतीयोन्मादरूपैव  
सत्यमेतन्न संशयः ॥७३॥

त्रिगुण सम्बन्धी भेद के अनुसार नर और नारी तीन प्रकार के जानने चाहिये, हे पितरो! उनमें से सात्त्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नर नारी काममोहित होते हैं। मिथुनीभूत काल में तीन दशा होती है, यथा प्राकृत दशा, विकृत दशा और उन्माद दशा यह सत्य है इसमें सन्देह नहीं ॥७१-७३॥



प्राकृतस्यैव भावस्य नरा नार्यश्च सात्त्विकाः ।  
राजसा विकृतस्यैव ह्युन्मादस्य तु तामसाः ॥७४॥

जायन्ते पितरः ! नूनं प्रकृत्या पक्षपातिनः ।  
उन्मादरूपाऽवस्था स्यान्नूनं नरकदा तथा ॥७५॥

स्वर्गदा विकृताऽवस्था प्राकृता मुक्तिदायिनी ।  
यतो नास्त्येव सम्बन्धः सृष्टेरुत्पन्नकारिणः ॥७६॥

नूनमष्टप्रकारस्य मैथुनस्य तथैव च ।  
विकारस्यापि तस्यां वै प्राकृतायां न संशयः ॥७७॥

हे पितरो! सत्त्वगुण के नरनारी प्राकृत, रजोगुण के विकृत और तमोगुण के स्वाभाव ही से उन्मादभाव के पक्षपाती होते हैं । उन्माद नरक प्रद विकृत स्वर्गप्रद और प्राकृत दशा ही मुक्तिप्रद है । क्योंकि विकार और सृष्टि उत्पन्न कारी अष्ट प्रकार मैथुन का भी सम्बन्ध प्राकृत दशा में नहीं ही रहता है यह निःसन्देह ही है । ॥७४-७७॥

अतो हि पितरो यूयं नूनं देवगणस्तथा ।  
चाञ्चल्यरहितं शुद्ध सात्त्विकं देवदुर्लभम् ॥७८॥

नारीभ्यश्च नरेभ्यश्च ह्याधिकार कथञ्चन ।  
कदाचिदेव केभ्यश्चिदीशते दातुमुत्तमम् ॥७९॥

हे पितृगण ! यही कारण है कि देवदुर्लभ चञ्चलतारहित शुद्ध सात्त्विक उत्तम अधिकार आपलोग और देवतागण किन्हीं नरनारियों को किसा प्रकार कदाचित् ही प्रदान कर सक्त हैं ॥७८-७९॥

अल्पमैथुनसन्तुष्टौ सात्त्विकौ दम्पती तथा ।  
राजसौ कामुकौ किन्तु स्तो विचारसमन्विता ॥८०॥

अविचारपरौ तौ स्तस्तामसावतिकामुकौ ।  
सात्त्विकौ दम्पती नूनं स्यातां ज्ञानरतौ वरौ ॥८१॥

परस्परार्थिनौ तौ हि जायते पितरः ! सदा ।  
राजसौ भोगनिरतौ स्वार्थिनौ भवतश्च तौ ॥८२॥

तामसौ तौ विचारेण राहतौ च प्रमादिनौ ।  
अनर्थकारिणौ स्यातां कामभोगपरायणौ ॥८३॥

सात्त्विक नरनारी अल्प मैथुन से संतुष्ट, राजसिक गण कामुक परन्तु विचारवान् और तामसिक गण घोर कामासत और अविचारी होते हैं हे पितरो! श्रेष्ठ सात्त्विक नरनारी ही ज्ञान निरत और सदा ही वे परस्परार्थी होते हैं राजसिक गण भोग निरत और स्वार्थी होते हैं तथा तामसिकगण विचाररहित प्रमादी कामभोगपरायण और अनर्थ कारी होते हैं। ॥८०-८३॥

रोचते सात्त्विकाभ्यां हि पवित्रं ज्ञानकौशलम् ।  
तथैव राजसाभ्याञ्च क्रियाकौशलमद्भुतम् ॥८४॥



पितरस्तामसाभ्यान्तु भावः पाशविकः सदा ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यः सन्देहो वा कदाचन ॥८५॥

हे पितृगण ! सात्त्विक नरनारी पवित्र ज्ञान कौशल, राजसिक  
अद्भुत क्रिया कौशल और तामसिक पाशवभाव के सदा पक्षपाती  
होते हैं, इसमें कभी विस्मय अथवा सन्देह नहीं करना चाहिये ॥८४-  
८५ ॥

सात्त्विकाः स्युर्नरा नार्यो ध्रुवं धीराः स्वभावतः  
राजसाश्चञ्चला एवमुन्मादा इव तामसाः ॥८६॥

सात्त्विक नरनारी स्वभाव से ही धीर, राजसिक चञ्चल और तामसिक  
उन्मादप्राय होते हैं ॥८६॥

प्रेमिकाः सात्त्विका नित्यं राजसाः कुटिलाः स्मृताः । निर्लज्जास्तामसा  
ज्ञेयाः सत्यमेतद्रवीमि वः ॥८७॥

सात्त्विक नरनारी नित्य प्रेमिक, राजसिक कुटिल और तामसिक  
निर्लज्ज होते हैं। यह मैं आपलोगों से सत्य कहता हूँ ॥८७॥

सात्त्विकाः सङ्गमेऽध्यात्मलक्ष्यकाश्च परस्परम् ।  
आनन्ददा राजसास्तु कामसौख्यैकलक्ष्यकाः ॥८८॥

रता भोगे तामसास्तु स्वस्वलक्ष्याः प्रमादिनः ।  
सात्त्विकानां नराणां हि नारीणामपि तादृशाम् ॥८९॥



चित्तेष्वेव प्रकाशेत ह्यात्मज्ञानं तथैव च ।  
पूर्णस्वरूपं धर्मस्य नात्र कार्या विचारणा ॥९०॥

सात्त्विक नरनारीको संगम दशा में अध्यात्म लक्ष्य और एक दूसरे के आनन्द में तत्परता, और तामसिक गण को एकमात्र कामज सुख लक्ष्य और भोग में तत्परता और तामसिक गण को केवल अपना अपना लक्ष्य और प्रमाद जनित सुख में तत्परता रहती है। हे पितृगण! सात्त्विक नरनारियों के चित्त में ही आत्मज्ञान और धर्म का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो सकता है। इसमें विचार नहीं करना चाहिये ॥८८-९०॥

दम्पत्योर्वर्तते नूनं नराणां हि प्रधानता ।  
अतो हि पितरः ! सर्वगुणानां संविकाशने ॥९१॥

कर्त्तव्यं पुरुषाणां वै मन्यतेऽभ्यधिकं बुधैः ।  
प्रकृत्या चं, प्रवृत्त्या च तुल्या धर्मेण चेतपुनः ॥ ९२॥

प्रभवेर्युनरा नार्यो धर्तु सात्त्विकलक्षणम् ।  
तदर्थं सुलभा मुक्ति का कथाभ्युदयस्य वै ॥९३॥

स्त्रीपुरुष में पुरुष का ही सर्वथा प्राधान्य है इस कारण हे पितृगण ! सवगुणों के विकास में विद्वानों के द्वारा पुरुषका दायित्व ही अधिक माना गया है। स्त्री, और पुरुष यदि समान प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्मवाले होकर सात्त्विक लक्षणों को धारण कर सके तो उनके लिये अभ्युदय की तो बात ही क्या है मुक्ति भी अति सुलभ है ॥९१-९३॥

समानधर्मप्रकृतिप्रवृत्ती दम्पती परम् ।  
जगत्यां नैव जायते विशिष्टां मत्कृपां बिना ॥९४॥

परन्तु समान प्रकृति प्रवृत्ति और धर्म के दम्पती संसार में मेरी विशेष कृपा बिना नहीं हो सकता ॥९४॥

प्राप्तो जन्म चेत्सन्तौ ज्ञानिभक्ताबुभावपि ।  
तदैवैवविधो योगो लोकातीतः प्रजायते ॥९५॥

यदि दोनों ही मेरे ज्ञानी भक्त होकर जन्मग्रहण करें तब ही ऐसा लोकातीत मेल हो सकता है ॥९५॥

यतश्चैवंविधे योगेऽनेक विघ्ना भवन्त्यलम् ।  
किञ्चिदत्रापि वक्ष्येऽहं श्रूयतां पितृभिर्बुधैः ॥९६॥

क्योंकि ऐसे "मेल में विघ्न बहुत ही होते हैं इस विषय में मैं कुछ वर्णन करता हूँ विद्वान् पितृगण सुनें ॥९६॥

नराणां पितरः ! सन्ति भेदाः षोडशसङ्ख्यकाः ।  
तथा भेदाश्च नारीणां षोडशैव प्रचिकीर्ताः ॥९७॥

हे पितृगण ! पुरुष और स्त्री के सोलह सोलह भेद कहे गये हैं ॥९७॥

शशो मृगो वराहोऽश्वो नृणामेताश्चतुर्विधाः ।  
जातयः खलु वर्तन्ते नात्र कार्योऽतिविस्मयः ॥९८॥

शश, मृग, वराह और अश्व ये पुरुष की चार जातियां हैं इसमें अति विस्मय न करें ॥९८॥

प्रत्येकमेव प्रत्येकान्तर्भवेनैव जातयः ।  
षोडशधा प्रजायन्ते पुरुषाणां न संशयः ॥९९॥

प्रत्येक जाति में ही प्रत्येक का अन्तर्भाव होने से ही पुरुष की सोलह प्रकार की जाति होती है यह निःसन्देह है ॥९९॥

पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा ।  
एवं चतुर्विधा गीता जातयो योषितामपि ॥१००॥

पद्मिनी, चित्रिणी शंखिनी और हस्तिनी स्त्रियों की भी ये चार जातियां प्रसिद्ध हैं। ॥१००॥

अन्तर्भवेन प्रत्येकं जायन्ते ताश्च षोडश ।  
सामानानां समानासु दाम्पत्यप्रेमबन्धनम् ॥१०१॥

स्थापितं त्याज्जगत्याचेत्स्तो मोक्षाभ्युदयौ तयोः । नारीणामुच्चजाति  
भवेद्यधुभयोस्तदा ॥१०२॥

एतासां प्रकृतिः सप्तश्रेण्यन्तं हि यथाक्रमम् ।  
सामञ्जस्यं ध्रुवं रक्षेत्क्रममभ्युदयस्य च ॥१०३॥

प्रत्येक में अन्तर्भाव होने से प्रत्येक के चार चार भेद होकर स्त्री की सोलह जातियां होती हैं यदि इन सोलह प्रकार को पुरुषजाति और सोलह प्रकार की स्त्रीजाति में ठीक ठीक समान श्रेणी में दाम्पत्य प्रेम सम्बन्ध सृष्टि में स्थापित हो तो दोनों के अभ्युदय और निःश्रेयस होते हैं। दोनो में से यदि स्त्री को जाति उच्च हो तो सात श्रेणी तक नारी की प्रकृति यथाक्रम सामञ्जस्य की अवश्य रक्षा करती है और अभ्युदय का क्रम बना रहता है ॥१०१-१०३॥

ततोऽशान्तिश्च दुःखञ्च जायते रोग एव च ।  
नराणामुच्चजातिश्चेत्सामञ्जस्यं यथाक्रमम् ॥१०४॥

सम्यग्भ्युदयस्यास्ते तर्हि श्रेणीत्रयावधि ।  
सामन्जस्यस्य रक्षायां सृष्टेर्वाधा ततो भवेत् ॥१०५॥

तदनन्तर अशान्ति दुःख और रोग होता है। यदि पुरुष की जाति उच्च होतो अभ्युदय का यथाक्रम सामञ्जस्य तीन श्रेणी तक भलीभांति रहता है तदनन्तर सृष्टि की सामञ्जस्य रक्षा में बाधा होती है ॥१०४-१०५॥

स्वधर्मतश्च्युता नारी स्वधर्मादविच्युतो नरः ।  
भवेद्यदि तदा सृष्टेः सामञ्जस्यं न तिष्ठति ॥१०६॥

नारीगण यदि नारी धर्म से च्युत हों और पुरुषगण पुरुषधर्म से च्युत हो तो सृष्टि का सामञ्जस्य नहीं रहता है ॥१०६॥



तपःप्रधानतामति नारीधर्मो यतः सदा ।  
यज्ञमधानतामेवं नृणां धर्म इति श्रुतिः ॥१०७॥

क्योंकि सदा नारीधर्म तपः प्रधान है और पुरुषधर्म यज्ञ प्रधान है यही श्रुति है ॥१०७॥

हीश्च श्रीर्मधुरा वाणी त्रिविधा च पवित्रता ।  
निःस्वार्थश्च सतीभावो वात्सल्यं सेवनादरः ॥१०८॥

पुरुषोचितभावानामङ्गीकारे सदाऽचिः ।  
नारीणां हि गुणा अष्टावुत्तमाः कीर्तिता इमे ॥१०९॥

नारी के लिये ही, श्री, मधुर वचन, विविध पवित्रता, स्वार्थरहित पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता और पुरुषों के उपयोगी भावों में भावित होने में सदा अरुचि ये आठ ही उत्तमगुण कहे गये हैं ॥१०८-१०९॥

पुरुषाणान्तु सर्वेषां पितरः! सन्ततं भृशम् । स्वस्ववर्णाश्रमाचारपालनं  
गुण उत्तमः ॥११०॥

और हे पितृगण ! सब पुरुषों के लिये सर्वदा अपने अपने वर्णाश्रमाचार का पालन ही उत्तमगुण कहा गया है। ॥११०॥

योषितां पुरुषाणाश्च परीक्षाऽतीव दुर्गमा ।



ऋतम्भरायुता भक्ता ज्ञानिनो मे यथार्थतः ॥१११॥

पितरः ! दम्पती नूनं शक्नुवन्ति परीक्षितुम् ।  
अन्यः कोऽपि न शक्नोति सत्यमेतद्भवीमि वः ॥११२॥

स्त्री और पुरुष परीक्षा बहुत ही कठिन है । हे पितृगण! ऋतम्भरा युक्त मेरे ज्ञानी भक्त ही यथार्थ रूप से स्त्री परीक्षा , और पुरुष परीक्षा करने में समर्थ हैं और कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। यह मैं अपलोगों से सत्य कहता हूँ ॥१११-११२॥

सामुद्रिकैस्तथा ज्योति शास्त्रैश्चैव स्वरोदयैः ।  
एवं बहुविधैर्गैः परीक्ष्येतेऽत्र दम्पती ॥ ११३ ॥

इस जगत में सामुद्रिक विद्या, स्वरोदयविद्या और ज्योतिष विद्या से और इस प्रकार के नेक मार्गों से स्त्री पुरुष परीक्षा की जाती है ॥११३॥

कर्तुं दाम्पससम्बन्धं कैवल्यभ्युदयेच्छुभिः ।  
तेषां नामानि कथ्यन्ते येषाम्हर्या विचारणा ॥११४॥

दाम्पत्य सम्बन्ध करनेके लिये अभ्युदय और कैवल्येच्छुओं को जिन बातों का विचार करना चाहिये उनके नाम कहे जाते हैं ॥११४॥

कुलं देहो गणो योनिग्रहो राशिदिनन्तथा ।  
स्त्रीदीर्घश्चैव माहेन्द्रो राशीशो रज्जुवश्यकौ ॥११५॥



वेधश्च वर्णकूटञ्च भूतलिङ्गाख्यकूटकम् ।  
नाडी च योगिनीगोत्रं जातिश्च पक्षिकूटकम् ॥११६॥

तारा तथा भकूटश्च प्रवृत्तिवृद्धिरेव च ।  
इन्द्रियाणां तथा दाढयं भावश्च पञ्चविशकः ॥११७॥

कुल शरीर, गण, योनि, ग्रह, राशि, दिन, माहेन्द्र, स्त्री दीर्घ, राशि का अधिपति, रज्जु, वश्य, वेध, वर्णकूट, नाडी, भूतलिङ्गायकूट योगिनी गोत्र, जाति, पाक्षि कूटक, तारा, भकूट, प्रवृत्ति, इन्द्रिय दाय, बुद्धि और पच्चीसा भाव ॥११५-११७॥

अधिकारे समाने चेत्स्थापितः पितरो भवेत् ।  
सौम्यो दाम्पससम्बन्धोऽभ्युदयस्य तु का कथा ॥११८॥

मोक्षोऽपि सुलभस्ताहि नैव कार्योऽत्र विस्मयः ।  
एवंविधै हि दाम्पसे सञ्जते जायते ध्रुवम् ॥११९॥

मत्सधानाविभूतीनां देवानां भवतां तथा ।  
ऋषीणाञ्चैव सर्वेषां सर्वथैव प्रसन्नता ॥१२०॥

हे पितृगण ! यदि समान अधिकार में कल्याणकारी दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित हो तो अभ्युदय की तो बात ही क्या है निःश्रेयस भी सुलभ है इसमें, विस्मय नहीं ही करना चाहिये। ऐसा दम्पति सम्बन्ध होने पर ही मेरे प्रधान विभूतिरूपी आप लोगों की सब देवताओं की और सब ऋषियों की भी सब प्रकारसे ही प्रसन्नता होती है ॥११८-१२०॥

जन्मभूमिमैवेद्धन्या पवित्रञ्च कुलं तयोः ।  
तौ स्वयं ज्ञानिनी सन्ता स्तः सार्वभौमधर्मिणौ ॥१२१॥

अथवा सन्तति लब्ध्वा पूर्णज्ञानरलकृताम् ।  
विश्वमेतत् प्रकुर्वन्तौ धन्यं धन्यौ च तो स्वयम् ॥१२२॥

उनका कुल पवित्र होता है, जन्मभूमि धन्य होती, है और या तो वे स्वयं शानवान् होकर सार्वभौम धर्म के अधिकारी बनते हैं नहीं तो पूर्ण ज्ञान से अलंकृत सन्तति को प्राप्त करके वह इस जगत् को धन्य करते हुए स्वयं भी धन्य होते हैं। ॥१२१-१२२॥

क्षेत्ररूपतया नारी पूर्णा धैर्यगुणैः सदा ।  
कन्यायाः पितरौ नस्पाद धव्य यौ त्रिविधं सदा ॥१२३॥

रक्षितुं शक्नुतो नूनं तथा कर्तुं समुन्ननम् ।  
स्वामिनो ये निजस्त्रीणां धैव्यैवा त्रिविधं सदा ॥१२४॥

स्वयं संयमिनः सन्तो नष्टं कर्तुं न चोद्यताः ।  
ते सदा प्राप्नुवन्सेव सदगान देवदुर्लभाम् ॥१२५॥

नारी क्षेत्र रूपा होने से सदा धैर्यगुणों से पूर्ण है इस कारण जो पिता माता सदा ही कन्या के त्रिविध धैर्य की रक्षा और उन्नतिमें समर्थ होते हैं अथवा जो पति सदा अपनी स्त्री के विविध धैर्यको स्वयं संयमी रहते हुए नष्ट करने में उद्यत नहीं होते हैं वे सदा देवदुर्लभ सदगति को ही प्राप्त होते हैं। ॥१२३-१२५॥





भवन्तः पितरः ! तेभ्यः स्ववाञ्छितगुणान्विताम् ।  
सन्ततिञ्च बलं स्वास्थ्यं प्रयच्छन्ति स्वयं सदा ॥१२६॥

हे पितृगण! आपलोग उनको अपने वांछित गुणवाली सन्तति, बल और स्वास्थ्य सदा स्वतः प्रदान करते हो। ॥१२६॥

गर्भाधानस्वरूपस्य यौ तु पीठस्य दम्पती ।  
स्मरतः पितरः ! नित्यं मर्यादाच पवित्रताम् ॥१२७॥

हे पितृगण ! जो दम्पती गर्भाधान रूपी पीठ की मर्यादा और पवित्रता को सदा स्मरण रखते हैं जो

तथा दैव्यां जगत्यां हि श्रद्धालू यौ निरन्तरम् ।  
यौ स्वयोश्च सदा सत्त्वगुणलक्षणमीप्सितम् ॥१२८॥

प्राप्तुं यत्नं प्रकुर्वति सन्ततौ हि तयोर्भुवम् ।  
उच्चाधिकार एतादृक् सम्भकाशेत येन सा ॥१२९॥

ज्ञातुमीष्टे प्रजा पुण्या पूर्णधर्माधिकारिताम् ।  
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते पितृपुङ्गवाः ॥१३०॥

दैव जगत् पर निरन्तर श्रद्धालु होते हैं और जो सदा अपने मे सत्त्वगुण के लक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं उनकी सन्तति मे अवश्य ही ऐसे उच्च अधिकार प्रकट होते हैं कि जिससे वह प्रजा धर्म के पवित्र



पूर्ण अधिकार को जान सकती है, हे पितृवरो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। ॥१२७-१३०॥

उक्तज्ञानप्रचारेण कृपातो भवतां तथा ।  
एतच्छुभं फलं लोक आविर्भवितुमर्हति ॥१३१॥

जगत में उक्त ज्ञान के प्रचार द्वारा और आप लोगों की कृपा से यह शुभ फल प्रकट हो सकता है ॥१३१॥

वर्णाश्रयाणां मर्यादा-रक्षणेनैव निश्चितम् ।  
मर्त्यजातिषु प्राप्यन्तेऽधिकारा इस्थमुन्नताः ॥१३२॥

वर्णाश्रम मर्यादा को सुरक्षा के द्वारा ही मनुष्यजाति में ऐसे उन अधिकार निश्चय प्राप्त हो सकते हैं। ॥१३२॥

धर्मा वर्णाश्रमाः सन्तः प्रवृत्ते रोधकाः क्रमात् ।  
निवृत्तेः पोषकाश्चैव मान्तःकरणे मम ॥१३३॥

पराभक्तेः प्रजायन्ते आत्मज्ञानस्य वै पुनः ।  
विकाशका न सन्देहो विद्यते पितरो ध्रुवम् ॥ १३४ ॥

वर्णाश्रमधर्म यथा क्रम प्रवृत्ति रोधक और निवृत्ति पोषक होकर ही मनुष्य के अन्तःकरण में मेरी पराभक्ति और आत्मज्ञान का विकासक होते हैं हे पितरो ! इसमें सन्देह ही नहीं है। ॥१३३-१३४॥



वर्णाश्रमानुकूलस्य सदाचारस्य रक्षया ।  
मनुष्याणां पयो रोधः स्यात् क्रमाभ्युदयस्य न ॥१३५॥

वर्ण और आश्रम धर्म के अनुकूल सदाचार की सुरक्षा के द्वारा  
मनुष्यजाति के क्रमाभ्युदय के पथ का अवरोध नहीं होता है ॥१३५॥

नासौ निर्विजतामेत्य मर्त्यजातिः प्रणश्यति ।  
यथाकालन्तु तस्यां हि धर्मस्य शाश्वतस्य वै ॥१३६॥

सार्वभौमस्वरूपस्य ह्यात्मज्ञान प्रकाशकम् ।  
असंशयं विकाशेत कदाचिन्नात्र विस्मयः ॥१३७॥

आर्यजातेबीजरक्षाऽऽध्यात्मिकी च क्रमोन्नतिः ।  
पितृणां वर्द्धनाऽनत्या तत्कृपाप्राप्तिरेव च ॥१३८॥

वह मनुष्यजाति निर्बीज होकर नष्ट नहीं हो जाती है और उसमें  
यथासमय सनातन धर्म के सार्वभौमरूप प्रकाशक आत्मज्ञान का  
विकाश भी हो ही जाता है इसमें आश्चर्य नहीं है ॥१३६-१३७॥

सहोच्चैदेवलोकैश्च सम्बन्धस्थापनं भृशम् ।  
विबुधानां प्रसादश्च विश्वमङ्गलसाधकः ॥१३९॥

तथा स्वभावससिद्धसंस्कारोदयसाधनम् ।  
बीजरक्षाऽऽत्मवोधस्य कैवल्याधिगमोऽपि च ॥१४०॥

वर्णाश्रमाणां धर्माणामष्टावेतानि मुख्यतः ।  
प्रयोजनानि सम्पाहः कर्मतत्वाब्धिपारगाः ॥१४१॥

आर्यजाति की बीज रक्षा, आध्यात्मिक क्रमोन्नति, पितरों का सम्बर्द्धन और उनकी विशेष कृपा प्राप्ति, दैवी ऊर्द्धव लोकों के साथ अतिशय सम्बन्ध स्थापन, विश्वमंगलकारिणी देवताओं की प्रसन्नता, स्वाभाविक संस्कारों का उदय करना, आत्मज्ञान की बीज रक्षा और कैवल्याधिगम ये वर्णाश्रम धर्म के आठ प्रधान प्रयोजन कर्मतत्व पारगो ने कहे हैं ॥१३८-१४१॥

रजोवीर्यविशुद्धयैव भवत्येव सुरक्षितम् ।  
आधिभौतिकसंशुद्धबीर्जं नु पितरो ध्रुवम् ॥१४२॥

हे पितृगण ! रजवीर्य की शुद्धि से ही आधिभौतिक शुद्धिका बीज, निश्चयही सुरक्षित होता है। ॥१४२॥

विदित्वा पीठमर्यादा संस्कारशुद्धिपूर्विकाम ।  
भवताश्च कृपापुञ्जैः पितरो रक्षितं भवेत् ॥ १४३ ॥

आधिदैविकसंशुद्धबीर्जं नूनं चिरन्तनम् ।  
सत्त्वलक्षणसंघो वै स्वस्मिञ्छ्वद्रिकाशितः ॥१४४॥

क्रियमाणैः प्रयत्नैश्चेदभवेदीजं सुरक्षितम् ।  
नूनमध्यात्मसंशुद्धेनात्र कार्या विचारणा ॥१४५॥

हे पितृगण ! संस्कारशुद्धिपूर्वक पीठमर्यादा को जानकर और आप लोगोंकी कृपा से अधिदैव शुद्धि का चिरन्तन बीज अवश्य बना रहता है और अपने में सत्त्वगुण के लक्षणसमूह सर्वदा विकसित करनेके



प्रयत्न द्वारा अध्यात्मशुद्धि की बीज रक्षा अवश्य होती है। इसमें विचार न करें ॥१४३-१४५॥

त्रिविधानां हि वीजानां रक्षयैवविधैः क्रमैः ।  
वर्णाश्रमाख्यधम्मस्य बीजं स्याद्राक्षितं ध्रुवम् बीजं ॥१४६॥

इस प्रकार के क्रम से त्रिविध-बीज की, सुरक्षा द्वारा ही वर्णाश्रमधर्म के बीज की अवश्य सुरक्षा होती है ॥१४६॥

स्याद्देशकालपात्राणां सत्येवं परिवर्तनात् ।  
वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य प्रचारः समये ध्रुवम् ॥१४७॥

ऐसा होने पर देश काल और पात्र के परिवर्तन से वर्णाश्रम धर्म का प्रचार यथासमय होना अवश्य सम्भावी है ॥१४७॥

अनेकासु हि बाधासूपस्थितास्वपि सर्वथा ।  
भवन्तः स्युः सचेष्टाश्चेन्नारीषु च तथा भृशम् ॥१४८॥

सतीधर्मस्य संशुद्धीरजोवीर्यस्य पुंत्रजे ।  
भवेदभोः पितरो विज्ञाः ! भक्तिर्मयि च संस्थिता ॥१४९॥

धर्मास्यास्य तदा नूनं भवेद्रीनं सुरक्षितम् ।  
श्रुतिरेषा वरीयति पितरो नात्र संशयः ॥१५०॥



हे विज्ञ पितृगण ! अनन्त बाधाओं के सर्वथा, उपस्थित होने पर भी यदि आप लोग अत्यन्त सचेष्ट रहें, और नारीमें सतीत्वधर्म और पुरुषों में रजवीर्य की शुद्धि और मेरी भक्ति बनी रहे तो इस धर्म की बीज रक्षा अवश्य होती है । हे पितृगण ! यही श्रुति है । इसमें सन्देह नहीं ॥१४८-१५०॥

इति श्री शम्भु गीतामुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
सदाशिवपितृसंवादे पिण्डसृष्टिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्रका सदाशिवपितृसंवादात्मक पिण्डसृष्टिनिरूपणनामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः : तृतीय अध्याय

### चक्रपीठ शुद्धि निरूपणम्

सदाशिव उवाच ॥ १ ॥

सदाशिव बोले ॥१॥

चिज्जङ्ग्रन्थिसाहाय्याजीवा उत्पद्य भूरिशः ।  
उद्भिज्जं लक्षविंशं हि स्वेदजं रुद्रलक्षकम् ॥२॥

एकोनविंशलक्षच नूनमण्डंजमद्भुतम् ।  
जरायुजं चतुस्त्रिशल्लक्षकं पितरस्तथा ॥३॥

अनार्यमानवानाञ्च लक्षद्वयमनुक्षणम् ।  
अशीतिः षट् च लक्षाणि योनिर्भ्रान्त्वा मुहुर्मुहुः ॥४॥

विशालं तत्पथं दुर्गमतिक्रम्यैव निश्चितम् ।  
आर्यभावं लभन्तेऽन्ते नात्र कार्या विचारणा ॥५॥

चिज्जड़ग्रंथि की सहायता से अनेक जीव उत्पन्न होकर हे पितृ गण !  
 २० लाख उद्भिज्जयोनि ११ लाख स्वेदजयोनि १९ लाख ही अद्भुत  
 अण्डजयोनि ३४ लाख जरायुजयोनि और २ लाख अनार्य मनुष्य योनि  
 इन ८६ लाख योनियों में प्रतिक्षण बारम्बार भ्रमण करके उस विशाल  
 पथ को अतिक्रमण करते हुए ही अन्त में निश्चय आर्यभाव को प्राप्त  
 करते है इसमें विचार नहीं करना चाहिये ॥२-५॥

चतुर्णी भूतसङ्गानां गतिरास्त निरापदा ।  
 धारावाहिकशीला च नितान्तं सरला तथा ॥६॥

चतुर्विध भूतसंघ की गति निरापद नितान्त सरल और धारावाहिक है  
 ॥६॥

तत्र प्रत्येकजीवानां वर्गान् रक्षन्सलं सुराः ।  
 तेषां त एव कथ्यन्तेऽधिदेवाश्च स्वधाभुजः ! ॥७॥

उनमें प्रत्येक जीव श्रेणियों की देवतागण पूर्णरूप से रक्षा करते हैं  
 और हे पितृगण ! वे ही उनके अधिदैव कहाते हैं ॥७॥

त एव क्रमशो जीवान् स्वाधिकाराप्तयोनितः ।  
 नयन्त्युच्चैस्तरां योनिं पिण्डनाशादनन्तरम् ॥८॥

और वे ही क्रमशः जीवों को अपने अधिकार से प्राप्त योनि से  
 उन्नततर योनि में पिण्डके नाश के अनन्तर पहुंचा दिया करते हैं ॥८॥

सम्पूर्णावयवा जीवा मर्त्यपिण्डं गतास्ततः ।



भूतिदाः ! भवतां नूनं साहाय्यं प्राप्तुमीशते ॥९॥

हे पितृगण! अन्त में जीव पूर्णवियव होकर मनुष्य पिण्ड को प्राप्त करके आपलोगों की सहायता को प्राप्त कर सकते हैं ॥९॥

क्रमशो वस्तु साहाय्यं समासाद्योत्तरोत्तरम् ।  
गच्छन्संशयं पुण्यामार्यकोटि समुन्ननाम ॥१०॥

और क्रमशः आपलोगो को सहायता उत्तरोत्तर प्राप्त करते हुए निश्चय ही आर्यकोटि में पहुंच जाते हैं। ॥१०॥

ततोऽप्यार्यपदं प्राप्ताः शुद्धयोश्चक्रपीठयोः ।  
अधिकारीभवन्तो हि साहाय्याच्छुद्धयोस्तयोः ॥११॥

प्राप्य मामधिगच्छन्ति मत्सायुज्यं न संशयः ।  
जीवत्वं हि तदा तेषां जीवानां नश्यति स्वयम् ॥१२॥

आर्यपदवी को प्राप्त कर तदनन्तर भी चक्रशुद्धि और पीठशुद्धि के अधिकारी बनकर उन शुद्ध चक्र और शुद्ध पीठों की सहायता से मुझको प्राप्त करके निःसन्देह मन्सायुज्य को लाभ करते हैं तब उन जीवोंका जीवत्व स्वतः ही नष्ट होजाता है ॥११-१२॥

अनुभूतमिदं त्वास्ते युष्माभिः पितरो ध्रुवम् ।  
मर्त्ययोनि समासाद्य जीवाः सर्वे समन्ततः ॥ १३ ॥

आवागमनचक्रेषु प्रविशन्ति न संशयः ।  
पश्यन्ति किन्तु वै चक्रं भाग्यवन्तो न केऽप्यदः ॥१४॥



हे पितृगण ! यह तो आपलोगों के अनुभव में है ही कि मनुष्ययोनि को प्राप्त करके सब जीव सब ओर से आवागमन रूपी चक्र प्रवेश करने हैं। परन्तु कोई भी भाग्यवान उस चक्र को नहीं ही देखते हैं  
॥१३-१४॥

परिधिस्तस्य चक्रस्य द्विधा भिन्नोऽस्त्यसंशयम् ।  
तत्रैकः प्रेनलोकोऽस्ति मृत्युलोकोऽपरस्तथा ॥१५॥

उस चक्र की निःसन्देह दो परिधि होती है एक को प्रेतलोक कहते हैं और दूसरे को मृत्युलोक कहते हैं ॥१५॥

असौ चक्रस्य परिधिः पितृलोकावधि क्रमात् ।  
विस्तीर्य प्रथमं पश्चान्नरके स्वरपि ध्रुवम् ॥१६॥

विस्तृणाति तपोलोक पर्यन्तं नात्र संशयः ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विश्वभूतिदाः! ॥१७॥

चक्र की वह परिधि प्रथम क्रमशः पितृलोक तक विस्तार होती है तदनन्तर नरकलोक में विस्तार होती है और यह परिधि स्वर्ग लोकमें भी विस्तार होकर ही तपलोक तक पहुंच जाती है इसमें सन्देह नहीं है । हे पितृगण ! आपलोगोंको इस विषय में आश्चर्य नहीं करना चाहिये ॥१६-१७॥

तमः प्रधानं प्रथमं चक्रमेतदनन्तरम् ।  
तमोरजःप्रधानञ्च रजःसत्त्वप्रधानकम् ॥१८॥

शुद्धसत्त्वप्रधानं हि जायते तदनन्तरम् ।  
उद्धर्व लोकं ततो मृत्युलोकं व्याप्नोति केवलम् ॥१९॥

परिधिस्तस्य चक्रस्य ततोऽन्ते मयि लीयते ।  
मृत्युलोके गतिस्तस्य स्वतो हि सहजा सती ॥२०॥

अथवाऽऽसाद्य शुक्लत्वं सत्यलोकावधि ध्रुवम् ।  
गत्वा तत्र तदैवाशु सर्वथैव प्रशाम्यति ॥२१॥

यह आवागमन चक्र प्रथम तमः प्रधान तदनन्तर तम-रज प्रधान तदनन्तर रज-सत्त्व प्रधान ही हो जाता है तदनन्तर उस चक्र की परिधि केवल उद्धर्व लोक और मृत्युलोक व्यापी ही रहती है और अन्त में वह चक्र मुझ में लय को प्राप्त होता है। उस समय ही उस चक्र को गति शीघ्र स्वतः ही सहज होकर या तो मृत्युलोक में ही शान्त होती है अथवा शुक्लता को प्राप्त करके सत्यलोक तक ही पहुंच कर वहां सर्वथा ही शान्त होती है। ॥१८-२१॥

अत्यन्त दुःशमं हीदमावागमनचक्रकम् ।  
भक्तुमेनमलं सन्ति मद्भक्ता एव केवलम् ॥२२॥

इस आवागमनचक्र का शान्त होना बहुत ही कठिन है केवल मेरे भक्तगण ही इस चक्र को भेदन करने में समर्थ होते हैं ॥२२॥

परिधिष्वत्र जीवान हि कृतकर्मानुसारतः ।  
एकतोऽन्यत्र भूम्यां वै भिन्ना देवा नयन्त्यलम् ॥२३॥

जीवों के कृतकर्मों के अनुसार उनको इस चक्र की इन परिधियों में एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाने का कार्य विभिन्न देवतागण किया करते हैं ॥२३॥

शुक्ला कृष्णा च सहजा त्रिविधा वर्तते गतिः।  
एतास्तिस्त्रोऽपि सन्त्येव देवसाहाय्यसास्कृताः ॥२४॥

गति तीन प्रकार की होती है उनके नाम रुपण शुक्ल और सहज हैं और ये तीनों भी गतियां देवताओं की सहायता के अधीन ही हैं ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः पण्मासा दक्षिणायनम्।  
चतुर्धा सविभक्तोऽस्ति क्रमः कृष्णगतेरिति ॥२५॥

कृष्ण गति का क्रम धूम रात्रि कृष्णपक्ष और छः मास दक्षिणायन इस प्रकारसे चतुर्धा विभक्त है। ॥२५॥

क्षमन्ते नैव ये भेतुं क्रममेतं चतुर्विधम् ।  
जीवास्तीवशरीराधासक्तियुक्तास्त एव हि ॥२६॥

मूर्छिता यान्ति पितरः ! प्रेतलोकं न संशयः।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः संशयोऽथवा ॥२७॥

हे पितृगण! जो इस चतुर्विध क्रम का भेदन करने में समर्थ नहीं होते, वह ही तीव्र देहादद्या सक्तिविशिष्ट जीव मूर्छित होकर निःसन्देह

प्रेतलोक को प्राप्त होते हैं इस विषय में आपलोगों को संशय और विस्मय नहीं ही करना चाहिये ॥२६-२७॥

पारयन्ते तु ये भेत्तुं गतरुक्तं चतुष्क्रमम् ।  
कपूयांचरणास्ते चेभिरकानाप्रावन्त्यहो ॥२८॥

मध्यमाचरणा यान्ति पितृलोकं न संशयः ।  
गच्छन्त्युत्तमकर्माणः स्वलोकं पितरः ! ध्रुवम् ॥२९॥

जो कृष्ण गति के उक्त चतुष्क्रम को भेदन करने में समर्थ होते हैं वह अहो, अधमकर्मा होने से नरकलोक, मध्यमकर्मा होनेसे निःसन्दे पितृलोक और उत्तम कर्मा होने से हे पितृगण ! निश्चय ही स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं ॥२८-२९॥

पुण्येन महता लभ्या गतिः शुक्ला स्वधाभुजः ! ।  
अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥३०॥

चतुर्धा संविभक्तो हि क्रमः शुक्लगतेरयम् ।  
अदोऽभिमानिनो देवा जीवाञ्छुक्लगतिं गतान् ॥३१॥

उच्चैः स्वर्लोकतः पूर्व नीत्या लोकाननन्तरम् ।  
आवागमनचक्रे हि शान्ते सत्यं नयन्त्यहो ॥३२॥

हे पितृगण ! शुक्लगति उग्र पुण्य से प्राप्त होती है उसके क्रम के चार भेद हैं, यथा-ज्योतिः, दिन, शुक्लपक्ष और छः मास उत्तरायण। इनके अभिमानी देवतागण, इस गतिशील जीवों को स्वर्गलोक से उच्च



लोकों में प्रथम पहुंचाकर तत्पश्चात् आवागमनचक्र के शान्त होने पर ही अहो ! सत्यलोक में पहुंचाते हैं ॥३०-३२॥

तत्र ते श्रेष्ठकर्माणः प्राणिनः सूर्यमण्डलम् ।  
विभिद्य प्राप्नुवन्त्येव मत्सायुज्यं न संशयः ॥३३॥

वहां से सूर्यमण्डल भेदन करके वह श्रेष्ठकर्मा जीव निःसन्देह ही मत्सायुज्यको प्राप्त करते हैं। ॥३३॥

सहजाया गतेरास्ते गतिरत्यन्तमद्भुता ।  
कश्चिन्नैवात्र सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥३४॥

सहज गति की गति अति विलक्षण है हे पितृगण ! इसमें कोई भी सन्देह नहीं है ॥३४॥

गति मे सहजामाप्ता भक्ताः कौलालचक्रवत् ।  
पिण्डं स्वं ज्ञानिनो नूनं जीवन्मुक्ता हि विभ्रति ॥३५॥

सहज गति प्राप्त मेरे जीवन्मुक्त ज्ञानीभक्त कुलाल चक्रवत् अपने पिण्ड को निश्चय ही धारण करते हैं ॥३५॥

शक्तेः कौलालचक्रस्य भ्रामिकाया लये सति ।  
तद्धि चक्रं यथा सद्यः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥३६॥

जिस प्रकार कुलाल चक्र, भ्रमण कारिणी शक्ति के लय होनेपर तत्काल ही स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥३६॥

नष्टे प्रारब्धजे पिण्डे जीवन्मुक्तास्तथैव मे ।  
लीयन्ते ज्ञानिनो भक्ता ध्रुवं मय्येव भव्यदाः ॥३७॥

आकाशपतिता वारिबिन्दवो बारिधाविय ।  
वस्तुतः सहजामाप्ता जीवन्मुक्ता हि प्राणिनः ॥३८॥

वासनायाः क्षये जाते तत्त्वज्ञानोदये सति ।  
सार्द्धे मनोविनाशेन विमुक्ताः पूर्वमेव ते ॥३९॥

हे पितृगण! उसी प्रकार मेरे जीवन्मुक्त भक्त प्रारब्ध जनित पिण्ड के नाश होने पर समुद्र में आकाश पतित वारिबिन्दु की भांति मुझमें ही निश्चय लय हो जाते हैं। वस्तुतः सहजगति प्राप्त ही जीवन्मुक्त जीव वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान लाभ और मनोनाश के साथ ही साथ पहले ही मुक्त हैं ॥३७-३९॥

सहजां गतिमाप्तानां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ।  
आवागमनचक्रं वै मृत्युलोके हि शाम्यति ॥४०॥

आवागमन चक्र की शान्ति सहज गति प्राप्त जीवन्मुक्त के लिये मृत्युलोक में ही निश्चय होती है ॥४०॥

शुक्लां गतिमवाप्तानां सतां प्रारब्धशालिनाम् ।  
सूर्यमण्डलसम्भेदकाले चक्रन्तु शाम्यति ॥४१॥

और शुक्ल गति प्राप्त प्रारब्धवान् महापुरुषों के लिये सूर्यमण्डल भेदन करते समय होती है ॥४१॥

पितरो वर्णयित्वैता जीवानां त्रिविधा गती ।  
साम्प्रतं जीवपिण्डानां गतीर्वो वर्णयाम्यहम् ॥४२॥

मुख्यं सम्बध्यते याभिर्भवतामधिकारिता ।  
सावधानैर्भवद्भिस्ताः श्रूयन्तां वै स्वधाभुजः ! ॥४३॥

हे पितृगण ! इन जीव की विविध गतियों का वर्णन करके अब मैं जीवपिण्ड की गतियां जिनके साथ आपलोगों के अधिकार का प्रधान सम्बन्ध है उनका वर्णन आप लोगो से करता हूँ, हे पितृगण! आपलोग इनको सावधान होकर ही सुनें ॥४२-४३॥

जीवानां जीवभावाय जीवपिण्डप्रधानता ।  
सदसत्कर्मणां भोगो विना पिण्डं न सम्भवेत् ॥४४॥

कर्मस्वातन्त्र्यलाभेऽपि यतस्तन्मुख्यताऽस्ति हि ।  
जैवैशसहजानां हि सर्वेषामेव कर्मणाम् ॥४५॥ .

साहाय्याज्जीवपिण्डानामेव भोगः प्रजायते ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ! ॥४६॥

जीवों के जीवत्व के लिये जीवपिण्ड की प्रधानता है क्योंकि विना पिण्ड के सत् असत् कर्म का फलभोग असम्भव है और कर्म करने





की स्वाधीनता प्राप्ति में भी जीवपिण्ड का प्राधान्य है चाहे जैव कर्म हो चाहे ऐश कर्म हो और चाहे सहज कर्म हो सबका ही जीव पिण्ड की सहायता से ही भोग होता है, हे पितृगण ! इस विषय में आपलोगों को विस्मय नहीं ही करना चाहिये ॥४४-४६॥

सहजो मानवो दैवो जीवपिण्डविधा मतः ।  
मर्त्येभ्यश्चतरे निम्ना भूतसङ्घाश्चतुर्विधाः ॥४७॥

यैस्तु कर्मफलं पिण्डैर्भुञ्जते सहजा हि ते ।  
मर्त्योपयुक्तपिण्डा हि कथ्यन्ते मानवाभिधाः ॥४८॥

सहज मानव और दैव रूप से जीव पिण्ड त्रिविध होता है, सहजपिण्ड वह ही हैं जिनके द्वारा मनुष्यों से इतर निम्न श्रेणी के चतुर्विध भूतसंघ कर्मफल भोग करते हैं। मनुष्य के उपयोगी पिण्डों को मानवपिण्ड कहते हैं ॥४७-४८॥

देवपिण्डाश्च ये व्याप्ता भुवनानि चतुर्दश ।  
वर्तन्ते पितरो दैव-भोगायतनरूपिणः ॥४९॥

और हे पितृगण ! चतुर्दश भुवनस्थित देव भोगायतनरूप जो पिण्ड हैं वे देवपिण्ड कहलाते हैं ॥४९॥

त्रिविधा एव नन्वेते वर्तन्ते पाञ्चभौतिकाः ।



उपादानेषु किन्त्वेषां प्रभेदो वर्तते महान् ॥५०॥

यह तीनों पिण्ड ही निश्चय पाञ्चभौतिक हैं परन्तु इनके उपादान में महान् प्रभेद है ॥५०॥

रातिभिः सहनाभिर्वे पिण्डास्ते सहजाभिधाः ।  
निर्मयन्त उपादानैः पार्थिवैरेव केवलैः ॥५१॥

सहजपिण्ड केवल पार्थिव उपादानो से ही सहज रीति से ही निर्मित होते हैं। ॥५१॥

सूक्ष्मैदैवैरुपादानैयथायोग्याधिकारतः ।  
निर्मयन्ते न सन्देहो देवाः पिण्डाः पृथग्विधाः ॥५२॥

नानाविध दैवीपिण्ड सूक्ष्मदैवी उपादानों से यथायोग्य अधिकारानुसार निःसन्देह निर्मित होते हैं ॥५२॥

प्रकृत्याऽलौकिकी दैवी शक्तिस्तत्र विराजते ।  
नैवात्र विस्मयः कश्चित्संशयो वा विधीयताम् ॥५३॥

क्योंकि उनमें लोकातीत दैवी शक्ति को विकास स्वभाविक रूप से विद्यमान रहता है, इस विषय में कोई विस्मय अथवा संशय नहीं कर सकते ॥५३॥

भवद्विशिष्टसाहाय्यालब्धानां किन्तु भूतिदाः!।



पिण्डानां मानवीयानां वैलक्षण्यं किमप्यहो ॥५४॥

परन्तु हे पितृगण ! आपलोगों की विशेष सहायता से प्राप्त जो मानव पिण्ड है अहो ! उनकी विचित्रता कुछ और ही है ॥५४॥

एते शक्तिविशेषाणां वर्तन्ते पितरो ध्रुवम् ।  
आकर्षणोपयोगित्वाचतुर्वर्गफलप्रदाः ॥५५॥

हे पितृगण ! वे विशेष शक्तियों के आकर्षण के उपयोगी होने से ही चतुर्वर्गफलप्रद हैं ॥५५॥

निःश्रेयसफलोत्पन्नकारिणो विटपस्य हि ।  
मानवीयो हि पिण्डोऽयं बीजमास्ते न संशयः ॥५६॥

यह मानवपिण्ड ही निःश्रेयस फल उत्पन्नकारी वृक्ष का ही निःसन्देह बीजस्वरूप है ॥५६॥

एतनिःश्रेयस नूनं वर्तते देवदुर्लभम् ।  
यस्मान्न पुनरावृत्तिस्तन्निःश्रेयसमुच्यते ॥५७॥

यह निःश्रेयस देवताओं के लिये भी दुर्लभ है, जिससे पुनरावृत्ति न हो उसको निःश्रेयस कहते हैं ॥५७॥

पिण्डानां मानवीयानां मुख्यत्वे पितरो ध्रुवम् ।  
भवन्तो हेतवस्सन्ति प्रधाना नात्र संशयः ॥५८॥

मानव पिण्डो के प्राधान्य के विषय में हे पितृगण! आपलोग ही प्रधान कारण हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥५८॥

महत्त्वद्योतकं नूनमेतदेवास्ति वो यतः।  
अतोऽदास्मरणादेव मनुष्याणां क्रमोन्नतौ ॥५९॥

सहैतु रक्षितुं सृष्टेः सामञ्जस्यं तथा क्षमाः।  
यूयमेवाऽनं कर्तव्ये धन्या भवितुमर्हथ ॥६०॥

क्योंकि यही आपलोगो का निश्चय महत्त्व सूचक है इस कारण इसको स्मरण रखने से ही आपलोग मनुष्यों की क्रमोन्नति में और सहेतुक सृष्टि सामजस्य की रक्षा करने में समर्थ होते हुए इस कर्तव्यमें धन्य हो सकते हैं। ॥५९-६०॥

जीवसृष्टिरहस्येषु मानवानाञ्च किंविधम् ।  
जन्ममृत्युगतं गुह्यं वैलक्षण्यं हि वर्तते ॥६१॥

पितरः ! तद्रवीम्यद्य श्रूयतां सुसमाहितैः।  
कोषः प्राणमयोऽस्त्यस्य साहाय्यात्पितरो ध्रुवम् ॥६२॥

देव्याः शाक्तेर्विकाशस्य देवानामासनस्य वा।  
उपयोगी जायतेऽसावावर्तः पीठ उच्यते ॥६३॥

हे पितृगण! जीव सृष्टि रहस्यों में मनुष्यों के जन्म मृत्यु की कैसी गुह्य विचित्रता है सो अभी कहता हूँ सुसमाहित होकर सुनो। हे पितृगण!



प्राणमय कोष की सहायता से ही दैवीशक्ति के विकास के अथवा देवताओं के आसन के उपयोगी जो आवर्त बनता है उसको पीठ कहते हैं ॥६१-६३॥

स्वाभाविक्यस्वभावा वा पाठस्योत्पादनाय या ।  
विधीयते क्रिया सम्यक् सत्सकौशलपूरिता ॥६४॥

चक्रं तदेव सम्प्राहुर्योगतत्त्वविशारदाः ।  
नात्र कश्चन सन्देवो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥६५॥

पीठ के उत्पन्न करने के लिये जो स्वाभाविक या अस्वाभाविक सत्सुकौशल पूर्ण क्रिया सम्यक रूप से की जाती है उसी को योग तत्वज्ञ चक्र कहते हैं, हे पितृगण ! इस विषय में कोई सन्देह नहीं है ॥६४-६५॥

पाठोत्पादकसामर्थ्यं मपिण्डो विभर्त्युसौ ।  
आवागमनचक्रस्याश्रयः स्वाभाविकस्य हि ॥६६॥

यह मानवपिण्ड पीठ उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है और यह मानवपिण्ड स्वाभाविक आवागमन चक्र का आश्रय ही है ॥६६॥

अनेकभेदसत्त्वेऽपि पाठस्यास्ति प्रधानतः ।  
भेदश्चतुर्विधो योऽसौ पोच्यते वः पुरोऽधुना ॥६७॥



पीठ के भेद अनेक होने पर भी प्रधानतः पीठ जो चार श्रेणी में विभक्त है उसको अभी आप लोगों के सामने कहता हूँ ॥६७॥

प्रथम स्थावर पीठं यथा तीर्थादिगोचरम् ।  
द्वितीयं सहज पीठं दम्पतीसङ्गमे यथा ॥६८॥

पीठं तृतीयकं दैवमिन्द्रलोकादिकं यथा ।  
चतुर्थं यौगिकं पीठं भगवद्विग्रहोद्भयम् ॥६९॥

अथवा यन्त्रसम्भूतं पितरों वर्तते यथा ।  
अनेकभेदसत्वेऽपि चक्रञ्चास्ते चतुर्विधम् ॥७०॥

प्रथम स्थावरपीठ, यथा-तीर्थादि, द्वितीय सहजपीठ, जैसा कि नर नारी के सक्षम समय में उत्पन्न होता है, तृतीय दैवी पीठ, यथा इन्द्रलोकादि और चौथा यौगिक पीठ, यथा पितृगण! भगवद विग्रह और यन्त्रादि में होता है । चक्र भी बहु प्रकार के होने पर भी उनकी चार श्रेणी है।  
॥६८-७०॥

आवागमनचक्रादि तत्राद्यं सहजं जगुः ।  
द्वितीयं कीर्तितं चक्रं तद्गृह्णाण्डनामकम् ॥७१॥

ग्रहोपग्रहमादीनामधिकार स्थितिर्याथा ।  
ज्ञेयं स्वाभाविकं चक्रमेतद्वयमसंशयम् ॥७२॥

प्रथम सहज चक्र वह कहलाता है, जैसा आवागमनचक्रादि द्वितीय ब्रह्माण्डचक्र यथा-ग्रह उपग्रह नक्षत्रादि का अधिकारस्थान, यह दोनों निःसन्देह स्वाभाविक चक्र कहलाते हैं। ॥७१-७२॥

सगर्भ स्यात्तृतीयं तद्ब्रह्मचक्रादिकं यथा।  
अगर्भनामकं चक्रं चतुर्थे समुदाहृतम् ॥७३॥

मन्त्रशुद्ध्या क्रियाशुद्ध्या रहितश्चैव यद्भवेत् ।  
इति वः कीर्तितं चक्र-रहस्यं परमाद्भुतम् ॥७४॥

तृतीयचक्र सगर्भचक्र कहलाता है, यथा-ब्रह्मचक्र शक्तिचक्रादि और चतुर्थ चक्र का नाम अगर्भ है जो मन्त्रशुद्धि और क्रियाशुद्धि से रहित ही होता है यह मैंने आप लोगों को परम अद्भुत चक्र का रहस्य कहा है। ॥७३-७४॥

याथार्थानुष्ठितं चक्रं सगर्भं मुक्तिदं भवेत् ।  
अगर्भं पितरः ! तद्ब्रह्मनमभ्युदयप्रदम् ॥७५॥

सगर्भ चक्र यथार्थ रूप से अनुष्ठित होने पर मुक्तिपद होता है और हे पितृगण! अगर्भचक्र यथार्थ रूप से अनुष्ठित होने पर ही अभ्युदय प्रद होता है ॥७५॥

परन्त्वेवंविधायां हि दशायो चक्रसाधकैः।  
भवितव्यं ध्रुवं सम्यगवश्यं मत्परायणः ॥७६॥



परन्तु ऐसी दशा में चक्रकारी साधकोंको अवश्य ही अच्छी तरह मत्परायण होना उचित है ॥७६॥

एतच्चक्रद्वयं जीवैः सत्सुकौशलपूर्णया ।  
क्रिययाऽनुष्ठितं यस्मादतोऽस्वाभाविकं जगुः ॥७७॥

ये दोनों चक्र सत्सुकौशल पूर्ण क्रिया से जीवों के द्वारा अनुष्ठित होने के कारण अस्वाभाविक कहलाते हैं ॥७७॥

उत्तरोत्तरमुक्तासु सप्तसु ज्ञानभूमिषु ।  
क्रमांरोहणकृत्यैव जायते पितरो ध्रुवम् ॥७८॥

आवागमनचक्रस्याध्यात्मशुद्धिर्न संशयः ।  
वर्णाश्रमाख्यधर्माणां स्वाधिकारानुसारतः ॥७९॥

जायते पालनेनाऽस्य शुद्धिः खल्वाधिदैविकी ।  
पितरो वो दयालब्ध्या शुद्ध्या शोणितशुक्रयोः ॥८०॥

सहजस्यापि पीठस्य क्रमोन्नसा निरन्तरम् ।  
आधिभौतिकशुद्धिर्हि नूनमस्य-प्रजायते ॥८१॥

हे पितृगण ! उक्त सप्त, ज्ञानभूमियों में उत्तरोत्तर क्रमशः आरोहण करते रहने से ही अवागमनचक्र की अध्यात्म शुद्धि सम्पादित होती है इसमें सन्देह नहीं है। अपने अपने अधिकारानुसार वर्णाश्रम धर्म के पालन द्वारा ही उस चक्र की अधिदैव शुद्धि हुआ करती है और हे पितृगण! आपलोगों की कृपा प्राप्त करने से सहजपीठ की निरन्तर





क्रमोन्नति से और रजवीर्य की शुद्धि से भी आवागमन चक्र की आधिभौतिक शुद्धि निश्चय सम्पादित हुआ करती है। ॥७८-८१॥

चक्रमेतद्भवन्तो हि कर्तुमुन्नामि सत्त्वरम् ।  
सन्ति चक्रेश्वरा नूनं स्मरणीयं सदेति वः ॥८२॥

इस चक्र को शीघ्र उन्नतिशील करने में आप लोग ही निश्चय चक्रेश्वर हैं, यह सदा आप लोगों को स्मरण रखना चाहिये ॥८२॥

एवं सर्वेषु चक्रेषु शुद्धित्रैविध्यमुत्तमम् ।  
आवश्यकं भवत्येव नात्र कार्या विचारणा ॥८३॥

सब चक्रों में इसी प्रकार उत्तम त्रिविध शुद्धि को आवश्यकता होती ही है, इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। ॥८३॥

आवागमनचक्रस्य साहाय्येनैव वोऽधुना ।  
निर्मितस्यास्य संशुद्धिं वर्णयित्वा पितृव्रजाः ! ॥८४॥

पीठशुद्धे रहस्यं वो ब्रवीमि श्रूयतामिति ।  
नानाविधेषु पीठेषु विधायोपासनां मम ॥८५॥

निजपिण्डस्थिते पीठे भक्ता नानाविधा यदा ।  
विभूतीर्मे लभन्तेऽन्ते तेजो मे सर्वथा तथा ॥८६॥

रक्षितुं पारयन्तेऽलं तदा पीठस्य जायते ।  
आधिभौतिक संशुद्धिर्नात्र कश्चन संशयः ॥८७॥

आपकी सहायता से ही निर्मित इस आवागमनचक्र की शुद्धि का वर्णन करके हे पितृगण! अब पीठशुद्धि का रहस्य आप लोगों से कहता हूँ सुनो। नाना प्रकार के पीठोंमें, मेरी उपासना करके जब मेरे भक्त निजपिण्ड स्थित पीठ में नाना विभूतियों को प्राप्त करते हैं और उस दशा में वह मेरे तेज की सर्वथा रक्षा करने में अच्छी तरह समर्थ होते हैं तब पीठ की आधिभौतिक शुद्धि होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥८४-८७॥

यदा तु क्रमशो दैवीं शक्तिं लब्धं ममेशते ।  
साधकाः पीठसंशुद्धिस्तदा स्यादाधिदैविकी ॥८८॥

और क्रमशः जब साधक मेरी देवी शक्तियों को लाभ करने में समर्थ होते हैं हे पितृगण! तब पीठ को आधिदैविक शुद्धि सम्पादित होती है ॥८८॥

तत्त्वज्ञानस्य पुण्यस्य विकाशेन यथाक्रमम् ।  
पीठस्याध्यात्मसंशुद्धिर्जायते च स्वथाभुजः ! ॥८९॥

और पवित्र तत्त्वज्ञान के यथाक्रम विकास द्वारा पीठ की आध्यात्मिक शुद्धि हुआ करती है। ॥८९॥

देशकालमनोद्रव्यंक्रियाशुद्धिर्हि पञ्चधा ।  
शुद्धिर्मुख्या समाख्याता पीठशुद्धिष्वसंशयम् ॥९०॥



पीठशुद्धियों के विषय में निःसन्देह देशशुद्धि, कालशुद्धि. मन की शुद्धि, क्रिया की शुद्धि और द्रव्य शुद्धि यह पांच प्रकार की शुद्धियाँ ही मुख्य कही गई हैं ॥९०॥

तत्रापि द्रव्यसंशुद्धिः प्राधान्यं वहते खलु।  
असौ योगोपयोगित्वादेहस्य जायते ध्रुवम् ॥९१॥

उनमें भी द्रव्यशुद्धि ही प्रधान है क्योंकि देह के योग-उपयोगी होने से ही वह होती है ॥९१॥

एवं मे ज्ञानिनो भक्ताः संशुद्धिं चक्रपीठयोः ।  
समासाद्य लभन्तेऽन्ते मत्सायुज्यं न संशयः ॥९२॥

इस प्रकार से मेरे ज्ञानी भक्त चक्र और पीठ शुद्धि को प्राप्त करके अन्त में निःसन्देह मत्सायुज्य को प्राप्त कर लेते हैं ॥९२॥

किन्त्वेवं पितरो यावज्जीवपिण्डे न सम्भवेत् ।  
चाक्रिकी पैठिकी शुद्धिस्तावन्नैव त्रितापतः ॥९३॥

निस्तरेयुरहो जीवाः कदाचिद्वै कथंचन ।  
तावत्कालश्च ते जीवा आवागमनचक्रके ॥९४॥

भ्रमन्तः खलु तिष्ठन्ति नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।  
मनुष्याः पञ्चकोषाणां समासाद्यापि पूर्णताम् ॥९५॥

आवागमन चक्रेऽस्मिन्विभ्रमन्तो निरन्तरम् ।

पिण्डेश्वरा भवन्तोऽपि भुभते दुःखमुल्वणम् ॥९६॥

परन्तु हे पितृगण ! जब तक जीवपिण्ड में इस प्रकार चक्रशुद्धि और पीठशुद्धि की सम्भावना न हो तब तक अहो ! त्रिताप से जीव कभी भी किसी प्रकार निस्तार नहीं ही हो सकते हैं और तब तक वह जीव अवागमनचक्र में घूमते ही रहते हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। मनुष्य पञ्चकोषों की पूर्णताको प्राप्त करके भी और पिण्डेश्वर हो जाने पर भी इस आवागमन चक्र में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए असहनीय दुःखों को भोगा करते हैं। ॥९३-९६॥

नरकप्रेतलोकेषु दुःखमस्त्येव दुःसहम् ।  
जीवाः स्वपितृलोकादौ सुखासक्ता अपि ध्रुवम् ॥९७॥

परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च समुद्भवैः ।  
दुःखैः सुदुःसहैः क्लेशमाप्नुवन्ति निरन्तरम् ॥९८॥

प्रेत लोक और नरकलोक में असहनीय दुःख है ही किन्तु पितृलोक और स्वर्गलोक आदि में जीवों के सुखभोग में रत रहने पर भी निश्चय जीव निरन्तर दुःसह परिणामदुःख तापदुःख और संस्कारदुःखों से क्लेश पाया करते हैं ॥९७-९८॥

मृत्युलोके ततो जन्म गृह्णते च यदा तदा ।  
यूयं यद्यपि तेभ्यो वै स्वस्वकर्मानुसारतः ॥९९॥

उपयुक्तं प्रयच्छेत भोगायतनरूपकम् ।



पित्रोः स्थूलं रजोवीर्यसाहाय्याद्बपुरद्भुतम् ॥१००॥

परिश्रमेण महता पाञ्चभौतिकमण्डला ।  
तत्त्वानि किल सञ्चिस तद्भोग्यान पितरोऽनिशम् ॥१०१॥

मातृगर्भेषु निर्माय स्थूलदेहान्न संशयः ।  
लभन्ते मातृगर्भेषु दुःखान्येव तथापि ते ॥१०२॥

तदनन्तर जब वे मृत्युलोक मे जन्म लेते हैं तव यद्यपि आपलोग उनके अपने अपने कर्मानुसार ही उनके उपयुक्त भोगायतन रूपी अद्भुत स्थूलशरीर उनको माता पिता के रजवीर्य की सहायता से प्रदान करते हो और हे पितृगण ! बड़े परिश्रम से आप पञ्चभूत मण्डल से निरन्तर तत्त्वों को एकत्रित करके ही मातृगर्भ में उनके भोग के योग्य स्थूल शरीरों को निःसन्देह बना देते हो तो भी वह मातृगर्भ में दुःखों को ही पाते हैं। ॥१०१-१०२॥

गुह्यमेकं रहस्यं वो ब्रवीम्यत्र निशम्यताम् ।  
रजस्तमोभ्यां जनिते गुणानां तु प्रभावतः ॥१०३॥

दम्पत्योद्विविधे शक्ती ह्याकर्षणविकर्षणे ।  
भजेते समतां यावत्तावदेव मुधीरयोः ॥१०४॥

दाम्पत्यं सात्त्विकं पीठं तिष्ठेत्रैवात्र संशयः ।  
दम्पत्योर्हि तदा धैर्यज्ञानभक्तिमभावतः ॥१०५॥

तस्मात्पीठासन्ततिः स्यात् सात्त्विकी ज्ञानिनी तथा ।  
यावत्स्यात् सात्त्विकं पीठं तद्वा सत्त्वगुणान्वितम् ॥१०६॥

दम्पत्योर्यत्नतो यावदधिकं योगयुक्तयोः ।  
स्यात्तावज्ज्ञान सम्पन्ना धार्मिकी संतातिर्ध्रुवम् ॥१०७॥

गर्भवस्थानकालेऽपि भवेत्सोन्नतिशीलभाक् ।  
मातृप्रसवकाले हि स्थलदेहातिपेषणैः ॥१०८॥

एतावदधिकं दुःखं लभन्ते गर्भप्राणिनः ।  
जन्मान्तरस्मृतिं येन विस्मरन्ति ह्यशेषतः ॥१०९॥

इस विषय में एक गुप्त रहस्य आप लोगों से कहता हूँ सुनो । गुण प्रभाव से दम्पती की रजतमजनित आकर्षण और विकर्षण शक्ति को समता जब तक रहती है तभी तक धीर दम्पती में सत्त्वगुणमय दाम्पत्य पीठ बना रहता है इसमें सन्देह नहीं। उस समय दम्पती के धैर्य, ज्ञान और भक्ति के प्रभाव द्वारा ही उस पीठ से सन्तति सात्त्विक और ज्ञानवान् होगी। पीठ जितना सात्त्विक होगा अथवा योगयुक्त दम्पती के यत्न से पीठ जितना अधिक सत्त्वगुणमय होगा उतनी ही सन्तति धार्मिक और ज्ञानवान् होती हुई गर्भवासदशा में भी वह उन्नतिशील रहेगी। मातृगर्भसे मुक्त होते समय स्थूल शरीर के अतिशय पेषण द्वारा गर्भस्थ जीव इतना अधिक दुःख पाते हैं कि जिससे जन्म जन्मान्तर की अपनी स्मृति को पूर्णरूप से भूल जाते हैं ॥१०३-१०९॥

गर्भवासे भवन्तो हि पितरो यद्यपि स्वयम् ।  
तेषां सहायका नूनं परमाः स्युस्तथाप्यहो ॥११०॥

नेशतेऽनुभवं कर्तुं तद्दशा तत्र का भवेत् ।  
कीदृशे दुःखजाले ते महाघोरे पतन्ति च ॥१११॥

हे पितृगण! यद्यपि गर्भवास में आप ही स्वयं उनके परम सहायक हो तथापि अहो! आप यह नहीं अनुभव कर सकते कि वहां उनकी क्या दशा होती है और कैसे महाघोर दुःखजाल में वह गिरते हैं ॥११०-१११॥

दाम्पत्यसङ्गरूपेषु पीटेषु सहजेवलम् ।  
आकृष्टाः पीठसनाशे पितृवीर्यकणाश्रयाः ॥११२॥

प्रविष्टा मातृगर्भेषु जायन्ते जीवनातयः ।  
पितरः श्रूयतां चित्रा गर्भवासकथाततिः ॥११३॥

दाम्पत्य संघ रूपी सहजपीठ में आकृष्ट होकर पीठ के अन्त होने पर पिता के वीर्यक्रण को आश्रय करके मातृ गर्भ में जीवगण प्रविष्ट होते हैं। हे पितृगण ! गर्भवास की विचित्र बातें सुने। ॥११२-११३॥

आतिवाहिकदेहस्य सन्त्यागादेव तत्क्षणम् ।  
दुर्वलाः क्लेशितास्ते च मूर्छामादौ व्रजन्त्यलम् ॥११४॥



उस समय उनके अतिवाहिक देह के त्याग से ही वह दुर्बल और क्लोशित होकर प्रथम पूर्ण मूर्च्छित हो जाते हैं ॥११४॥

आवागमनचक्रस्य परिधावत्र भूतिदाः ।  
भवन्तो जीववर्गाथै स्थूल देहं नयन्त्यलम् ॥११५॥

साहाय्यात्यञ्चतत्त्वानां नात्र कञ्चन संशयः ।  
सूक्ष्मदेहान्वितान्जीवांस्तत्र देवा नयन्ति च ॥११६॥

हे पितृगण ! आवागमन चक्र की इस परिधि में आप लोग जीवोंके लिये पञ्चतत्त्वमण्डल की सहायता से स्थूलदेह अच्छी तरह पहुंचाते हो इसमें कोई सन्देह नहीं है और देवतागण सूक्ष्म देहविशिष्ट जीवों को वहां पहुंचा देते हैं ॥११५-११६॥

प्रथमे मासि ते जीवा अतिक्लेशेन मूर्च्छिताः ।  
कलंलानां बुदबुदानामन्येषामपि योगतः ॥११७॥

सन्ततं क्लेशमापन्ना गर्भमध्ये वसन्त्यहो ।  
साहाय्याद्वस्ततोऽङ्गानि प्रत्यङ्गानि तथैव च ॥११८॥

लभमानाश्चतुर्थे तु मासे पूर्णाङ्गसंयुताः ।  
भग्नमूर्च्छां बहून् क्लेशान् लभन्तेऽत्र निरन्तरम् ॥११९॥

अतिक्लेश से मूर्च्छित वह जीव प्रथम मास में कलल बुदबुदादि के संयोग से निरन्तर क्लेश प्राप्त होते हुए अहो! गर्भ में वास करते हैं तत्पश्चात् अङ्ग और प्रत्यंगों को आप लोगों की सहायता से प्राप्त करते



हुए चतुर्थ मास में पूर्णवयव होकर मूर्छा के भङ्ग द्वारा अनेकों क्लेशों को वहां निरन्तर प्राप्त होते हैं ॥११७-११९॥

मातृजग्धान्नपादिरसैर्नानाविधैरलम् ।  
क्षुत्पिपासादिकं नित्यं शमयन्तो निजं मुहुः ॥१२०॥

वर्द्धन्ते किन्तु गर्भेऽत्र दुःखसीमा न वर्तते ।  
सम्माप्तपूर्णसंज्ञाश्च जीवास्ते मासि सप्तमे ॥१२१॥

स्वानेकजन्मकर्माणि द्रष्टुं ज्ञानदृशा क्षमाः ।  
कुर्वतेऽनुभवं घोरदुःखानां बहुजन्मनाम् ॥१२२॥

माता के खाए हुए अनेकों प्रकार के अन्नपानदि के रस से अपने क्षुत् पिपासादि की नित्य बारम्बार सम्यक् प्रकार से शान्ति करते हुए परिवर्द्धित होते हैं, परन्तु इसी गर्भवास में क्लेश को सीमा नहीं रहती है। सप्तम मास में वह जीवपूर्ण संज्ञालाभ करके अपने अनेक जन्मों के कर्म को ज्ञानदृष्टि से देखने में समर्थ होकर अनेक जन्मों के दुःखों का अनुभव करते हैं ॥१२०-१२२॥

यावद्भस्थिति स्तेषां नैकेषां पूर्वजन्मनाम् ।  
कर्माणि चिन्तयन्तोऽलं मज्जन्ति क्लेशसागरे ॥१२३॥

भूयोऽपि मूर्च्छितानां हि गर्भत्तेषां विनिस्मृतौ ।  
घोरकष्टाकुलानान्तु पूर्वजन्मशतस्मृतिः ॥१२४॥

विस्मृता जायते तेषां पितरः! नात्र संशयः।

ज्ञेयाऽपारकृपैवेयं प्रकृतेर्मम निश्चितम् ॥१२५॥

दत्त्वा निखिलजीवेभ्यो दुःखान्येवम्बिधान्यपि ।  
कल्याणं विदधात्येव सर्वथा प्रकृतिहर्यसौ ॥१२६॥

जब तक गर्भ में रहते हैं अपने पूर्व अनेक जन्मों के कर्मों का स्मरण करके दुःखसागर में अच्छी तरह डूबे रहते हैं ॥१२३॥ गर्भ से मुक्त होते समय घोर क्लेश से क्लेशित हो सैकड़ों पूर्वजन्मों की स्मृति को वे भूल जाते हैं, हे पितृगण! इसमें सन्देह नहीं है। यह मेरी प्रकृति की निश्चय अपार कृपा ही जाननी चाहिये कि वह निखिल जीवों को ऐसा दुःख देकर भी उनकी सर्वथा कल्याण ही करती हैं ॥१२४-१२६॥

नो चेज्जीवगणेभ्यो हि मृत्युलोका स्वधाभुजः !।  
पूर्वजन्मशतैराप्तसंस्कारस्मृतिसत्तया ॥ १२७ ॥

अधिकक्लेशदायी स्यान्नरकेभ्योऽपि दुःसहः ।  
धर्मस्य शृङ्खलायाश्च स्याद्बाधोपस्थिताऽधिका ॥१२८॥

नूनमभ्युदये तेषां भवेवाधाऽप्यनेकधा ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विश्वभूतिदा ॥१२९॥

नहीं तो हे पितृगण ! जीवों के लिये मृत्युलोक अनेक पूर्व जन्मों के संस्कारों की स्मृति रहने से नरकलोक से भी अधिक दुःख दायी होता और धर्म की श्रृंखला में भी अतिबाधा उत्पन्न होती और उनके अभ्युद्य



में अनेक बाधाएं भी होती हैं, हे पितृगण ! इसमें आपलोगों को विस्मय नहीं ही करना चाहिये ॥१२७-१२९॥

नृदेहं जीवन्देभ्यो दद्ध्वे यूयं यदा तदा ।  
पित्रोन्नूनं शरीरेण वीर्यांश पितरोऽधिकम् ॥१३०॥

नारीदेहं यदा दत्तं तदाशं रजसोऽधिकम् ।  
क्लीवदेहाप्रदित्सायामुभयोः समतां किल ॥१३१॥

दापयध्वे न सन्देहः सत्यमेतब्रवीमि वः ।  
पितरो वोऽनुकम्पातो लोके पुत्रादिसम्भवः ॥१३२॥

विकाशमपि देहेषु सच्चादेः कुरुथ स्वतः ।  
तात्कालिकमनोवृत्तेः पित्रोः साहाय्यतो ध्रुवम् ॥१३३॥

हे पितृगण ! जब पुरुषशरीर जीवों को आप प्रदान करते हो तब वीर्य का अंश अधिक जब स्त्री शरीर प्रदान करते हो तब रज का अंश अधिक और जब नपुंसक शरीर प्रदान करते हो तब उभय की समानता आप दिलाते हो इसमें सन्देह नहीं है, यह आप लोगो को मैं सत्य कहता हूँ। और शरीरों में सत्त्व आदि गुणों का विकास भी आप लोग माता पिता की उस समय की मनोवृत्ति की सहायता से ही स्वतः किया करते हो ॥१३०-१३३॥

अतश्चेत्पितरौ तत्त्वज्ञानसाहाय्यतः खलु ।  
एतत्सहजपीठस्य रहस्यं हृदयङ्गमम् ॥१३४॥

शक्नुयातां सदा कर्तुं तपसा दैहिकेन च ।  
आसंयतमनःप्रामाणावनुरक्तौ च मय्यलम् ॥१३५॥

गर्भाधानं प्रकुर्यातामुन्नतां सन्तति वराम् ।  
यथेष्टं पितरः ! नूनमुत्पादयितुमर्हतः ॥१३६॥

अतः हे पितृगण ! यदि मात पिता तत्त्वज्ञान को सहायता से ही इस सहज पीठ के रहस्य को हृदयंगम कर सके और शारीरिक तप और प्राण तथा मन का संयम करके तथा मुझमें यथावत् अनुरक्त होकर गर्भाधान करें तो जैसी उन्नत और श्रेष्ठ प्रजा वह चाहे वैसी ही उत्पन्न कर सके हैं ॥१३४-१३६॥

सम्पाद्य त्रिविधा शुद्धिं योगयुक्तौ निरन्तरम् ।  
तिष्ठतां चेत्तदा तौ हि विमुक्तौ सृष्टिबन्धनात् ॥१३७॥

लब्धुं निःश्रेयसं क्षिप्रं शक्नुयातां न संशयः ।  
यावत्प्रकाशनं लोके ज्ञानस्यास्य भविष्यति ॥१३८॥

तावान क्रमविकाशः स्यात्सत्त्वाख्यस्य गुणस्य वै ।  
पूर्ण ज्ञानश्च धर्मस्य संसारेऽत्र जनिष्यते ॥१३९॥

यदि त्रिविध शुद्धि सम्पादन करके वह सदा योगयुक्त रहे तो सृष्टि बन्धन से मुक्त होकर शीघ्र निःश्रेयस प्राप्त कर सके हैं इसमें सन्देह नहीं। इस ज्ञानका जितना प्रकाश जगत में होगा उतना ही सत्त्वगुण का क्रमविकाश होगा और धर्म का पूर्णज्ञान इस संसार में उत्पन्न होगा ॥१३७-१३९॥



आसुरी शक्तिरप्येव पराभूति समेष्यति ।  
भवन्तो निर्भयाः सन्तो लप्स्यन्तेऽभ्युदयं तथा ॥१४०॥

इसी प्रकार असुरों की शक्ति भी पराभूत होगी और आपलोग निर्भय होकर अभ्युदय प्राप्त करोगे ॥१४०॥

शान्तिमन्दाकिनी दैवे राज्ये नित्यं प्रवक्ष्यति ।  
सामञ्जस्यं तथा सृष्टे रक्षितं च भविष्यति ॥१४१॥

दैवराज्य नित्य शान्तिमय होगा और सृष्टि का सामञ्जस्य सुरक्षित होगा ॥१४१॥

इह सर्वे भविष्यन्ति परानन्दाधिकारिणः ।  
समृद्धाः सुखसम्पन्नाः सम्पत्स्यन्ते च प्राणिनः ॥१४२॥

इस संसार में सब परमानन्द के अधिकारी होंगे और सब जीवगण समृद्ध और सुखसम्पन्न होंगे ॥१४२॥

इति श्रीशम्भुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
सदाशिवपितृसंवादे चक्रपीठशुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगः शास्त्र का सदाशिवपितृसंवादात्मक चक्रपीठशुद्धि निरूपणनामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः चतुर्थ अध्याय

दैवलोक निरूपणम्

पितर ऊचुः ॥१॥

पितृगण वोले ॥१॥

हे विन्धनाथ ! सर्वेश ! लोकपालक ! हे विभो !  
त्वदयातो दयासिन्धो ! सर्वलोकहितमदम् ॥ २ ॥

अभृण्म खलु धर्मस्य रहस्यं परमाद्भुतम् ।  
पिण्डोत्पत्तेश्च विज्ञानं तन्नियामकमप्यहो ॥३॥

रहस्यं गहनं वर्णाश्रममूलकमुत्तमम् ।  
अद्य नो निश्चयो जातः प्रजोत्पत्त्या विधानतः ॥४॥

बाधा नः सुव्यवस्थायां भवेन्नैव कदाचन ।  
अज्ञासिष्म वयञ्चैतदिदानी हे जगद्गुरो ॥५॥



किविध ज्ञानसम्पन्ने जीवपिण्डे समुन्नते ।  
स्याद्धर्मसार्वभौमात्मोदारमृतोर्हि दर्शनम् ॥६॥

हे सर्वेश्वर! हे लोकपालक ! हे विश्वनाथ ! हे विभो ! हे दयासिन्धो!  
आपकी कृपा से हमने धर्म का परम अद्भुत सर्वलोक हितकर  
रहस्य, पिण्डोत्पत्ति विज्ञान और अहो ! वर्णाश्रमधर्ममूलक उसका  
नियामक उत्तम और गहन रहस्य सुना और अब हमें निश्चय हो गया  
है कि विधिपूर्वक प्रजा की उत्पत्ति होने से कदापि हमारी सुव्यवस्था  
में बाधा नहीं ही होगी। हे जगद्गुरो ! अब हमें यह भी विदित होगया  
है कि धर्म की सार्वभौम उदार मूर्ति का दर्शन किस प्रकार के उन्नत  
ज्ञानसम्पन्न जीवपिण्ड मे हो सकता है ॥२-६॥

वर्णाश्रमाणां धर्माणां महत्त्वं हृदयङ्गमम् ।  
कीदृशाः प्राणिनः कर्तुं शक्नुयुस्तु समुन्नताः ॥७॥

और वर्णाश्रमधर्मा का महत्व कैसे उन्नत जीव हृदयंगम कर सकते  
हैं ॥७॥

दिग्दर्शनञ्च धर्मस्य कारितं यद्दयावशात् ।  
तेनावश्यं वयं शम्भो ! धर्मास्याभ्युदयाय वै ॥८॥

अलं कृतं हि मानन्याः सृष्टेः साहाय्यमद्भुतम् ।  
प्राकृतायास्तथा दैव्याः सृष्टेः सन्तः सहायकाः ॥९॥



सामञ्जस्यं भवत्सृष्टिलीलाविस्तारगोचरम् ।  
अवन्नस्ते प्रसादस्य हेतवः सम्भवेम च ॥१०॥

आपने जो कृपा करके हमारे धर्म का दिग्दर्शन कराया है, हे शम्भो !  
जिसके द्वारा हम अवश्य ही धर्माभ्युदय के लिये मानवी सृष्टि की  
अद्भुत सहायता करने में समर्थ होंगे और साथ ही साथ प्राकृत सृष्टि  
और देवी सृष्टि के सहायक बनकर आपकी सृष्टि  
लीलाविस्तारसम्बन्धी सामञ्जस्य की रक्षा करते हुए आपकी प्रसन्नता  
का कारण हो सकेंगे ॥८-१०॥

दैव्याः सृष्टेः समासेन श्रीवयित्वा रहस्यकम् ।  
अद्य नस्तर्पय ज्ञानपिपासां हे कृपानिधे ! ॥११॥

अब हे कृपानिधे! देवी सृष्टि का संक्षेप रहस्य हमको सुनाकर हमारी  
ज्ञान पिपासा को तृप्त कीजिये ॥११॥

प्राकृतायाः समासाद्य सृष्टरेच यथाक्रमम् ।  
विकाशं मानवी सृष्टिर्जायते नात्र संशयः ॥१२॥

उभयोरेतयोर्ज्ञानं सम्यगस्माकमस्यतः ।  
अस्मल्लोकादतीतानां देवानां नास्ति किन्त्वलम् ॥१३॥

स्वरूपं लोकवृन्दानां विदितं नः किमप्यहो ।  
तदोषात्रः सदा दृष्टिः कैवल्याभ्युदयमदे ॥१४॥



गतिद्वयेऽवतिष्ठत सर्वथैव यथार्थतः ।  
वयं शरणमापन्ना यथा स्याच्छं तथा कुरु ॥१५॥

प्राकृत सृष्टि से ही क्रमविकाश होकर मानवी सृष्टि उत्पन्न होती है इसमें सन्देह नहीं इस कारण इन दोनों सृष्टियों का ज्ञान हमको अच्छी तरह ज्ञात है परन्तु हमारे लोक से अतीत जो अन्यान्य देश लोक है उनका स्वरूप अहो ! हमको कुछ भी विदित नहीं है, उनका ज्ञान हमें हो जाने से अभ्युदय और निःश्रेयसकारिणी उभयगति पर सब प्रकार से ही हमारी दृष्टि यथार्थतः सदा रहेगी। हम आपके शरणागत हैं, जिससे कल्याण हो कृपा वैसा कीजिये ॥१२-१५॥

सदाशिव उवाच ॥१६॥

श्रीसदाशिव बोले ॥१६॥

कल्याः ! स्थूलजगन्नृनं सूक्ष्मदैवजगतम् । सृष्टेरस्त्यधिभूतायाश्चालकं  
धारकं तथा ॥१७॥

आधिदैविकराज्यं हि नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।  
ससमेतन्न सन्देहः कर्तव्योऽत्र कदाचन ॥१८॥

हे पितृगण ! स्थूल जगत सूक्ष्म देव जगत के आधार पर ही स्थित है, अधिभूत सृष्टि का चालक और धारक अधिदैवराज्य ही है इसमें कुछ सन्देह नहीं है यह सत्य है इसमें कभी सन्देह न करना चाहिये ॥१७-१८॥

विनाऽधिदेवमाहाय्यं जगतो भवितुं क्षमाः।  
न स्थूलहश्यमानस्य सृष्टिस्थितिलयक्रियाः ॥१९॥

बिना अधिदैव सहायता के स्थूल परिदृश्यमान जगत की न सृष्टि हो सकती है, न स्थिति हो सकती है और न लय हो सकता है ॥१९॥

विधा विभक्तं पितरः ! देवं राज्यं हि वर्तते ।  
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतरूपं न संशयः ॥२०॥

हे पितृगण ! देवीराज्य अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप से तीन भागों में ही निस्सन्देह विभक्त है ॥२०॥

आधिभौतिककार्यस्य यूयं विश्वस्य चालकाः । आध्यात्मिकक्रियायाश्च  
चालका ऋषयो ध्रुवम् ॥२१॥

अधिदैवक्रियायाः सञ्चालकाः सन्ति भूतिदाः!।  
देवा नैके न सन्देहो नित्य नैमित्तिकास्तथा ॥२२॥

जगत की आधिभौतिक क्रिया के सञ्चालक आप लोग हैं जगत की अध्यात्म क्रिया के सञ्चालक ऋषिगण ही है और हे पितृगण! जगत की अधिदैव क्रिया के सञ्चालक अनेक नित्य और नैमित्तिक देवतागण ही हैं ॥२१-२२॥

देवश्रेण्यो हि मे तिस्त्र एताः सन्ति विभूतयः।  
नातः स्याद्रक्षिता सृष्टिरासां साहाय्यमन्तरा ॥२३॥

यह तीनों ही देवश्रेणी मेरी विभूति हैं, इस कारण इन तीनों ही की सहायता बिना सृष्टि की रक्षा नहीं हो सकती ॥२३॥

देवानामेव किन्त्वस्ति नूनं शक्तिविचारतः ।  
सर्वाधिकारतस्तेपामधिकारः समुन्नतः ॥२४॥

परन्तु शक्ति के विचार से देवतागण का अधिकार ही सब अधिकारों से उन्नत है ॥२४॥

अस्त्येतद्धि जगत्सर्वं पितरः ! कर्ममूलकम् ।  
जड़त्वात्कर्मवर्गस्य तत्सञ्चालनकर्मणि ॥२५॥

आवश्यकत्वाद्देवानां तत्प्राधान्यं परं स्मृतम् ।  
नैवात्र संशयः कार्यो विस्मयो वा कदाचन ॥२६॥

हे पितृगण ! यह सम्पूर्ण जगत् कर्म मूलक है, कर्मों के जड़ होने से कर्म के सञ्चालन में देवताओं की आवश्यकता रहने से देवताओं की परम प्रधानता मानी गई है, इसमें सन्देह अथवा विस्मय कभी नहीं ही करना चाहिये ॥२५-२६॥

अहं चतुर्दशानां हि भुवनानां स्वधाभुजः ॥  
पञ्चानाञ्चैव कोषाणां सम्बन्धादद्य वो ब्रुवे ॥२७॥

प्राधान्यं देववृन्दस्य श्रूयतां सुसमाहितैः ।  
देवसृष्टिरहस्यं स्याज्जातं येन यथार्थतः ॥ २८ ॥

हे पितृगण ! अब मैं चतुर्दश भुवन और पञ्चकोष के सम्बन्ध से देवताओं की प्रधानता आपको कहता हूँ ध्यान देकर सुनो जिससे आपको देवी संधिशा यशार्थ रहस्य विदित हो जायगा ॥२७-२८ ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिमूर्तिं त्रिगुणात्मकम् ।  
यदाऽहं पितरो धृत्वा स्वशक्तेरवलम्बनात् ॥२९॥

आददे सगुणं रूपं तिस्रस्ता एव मूर्तयः ।  
प्राधान्यं सर्वदेवेषु धरन्योऽलं भवन्ति ते ॥३०॥

ब्रह्माण्डे किल प्रत्येकं मुख्या देवा न संशयः ।  
आवहन्तस्त्रिदेवाख्यां प्राशस्त्यं यानि सर्वथा ॥३१॥

हे पितृगण ! जब मैं ब्रह्मा विष्णु और महेश रूपी त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति को धारण करके अपनी शक्ति की सहायता से सगुण होता हूँ तो वही मेरी त्रिमूर्ति सर्वदेव प्रधान होकर प्रत्येक ब्रह्माण्ड में निस्सन्देह प्रधान देवता कहलाते हैं और त्रिदेव नाम को धारण करके सर्वथा प्रसिद्ध होते हैं। ॥२९-३१॥

अस्य मूर्तित्रयस्यास्ते प्रतिब्रह्माण्डवर्तिनः ।  
नैव भेदो मया सार्द्धं वस्तुनः कश्चिदप्यणुः ॥३२॥

वास्तव में प्रत्येक ब्रह्माण्ड के इन त्रिमूर्तियों में और मुझमें कोई भी भेद नहीं है ॥३२॥



एतदेवाधिदैवं हि मुख्यं मूर्तित्रयं मम ।  
प्रोच्यते पितरो विज्ञै प्रतिब्रह्माण्डमीश्वरः ॥३३॥

हे पितृगण ! यह तीनों प्रधान अधिदेव मूर्ति ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ईश्वर कहलाते हैं ॥३३॥

ब्रमण्यध्यात्मशक्ति में ह्याधिदैव्यपि भाति वै ।  
लोकसृष्टत्वतो वोऽयं नायकोऽस्ति तथाप्यहो ॥३४॥

ब्रह्माजी में मेरी अध्यात्मशक्ति और अधिदेवशक्ति का पूर्ण विकास रहने पर भी वे लोकसृष्टा होने के कारण आपलोगों के नायक कहलाते हैं ॥३४॥

तथा शिवेऽधिभूतायामाधिदैव्याश्च पूर्णतः ।  
शक्तौ विकाशितायां हि सत्यामपि स्वधाभुजः ! ॥३५॥

नायको ज्ञानदातृत्वाद्दपीणामेव मन्यते ।  
संविकाशितयौ शक्तयोः पूर्णाऽध्यात्माधिभूतयोः ॥३६॥

विष्णौ सत्योस्तथाप्येष वर्तते देवनायकः ।  
देवशक्तिकदम्बस्य केन्द्रीभूतो यतोऽस्त्ययम् ॥३७॥

उसी प्रकार हे पितृगण! शिव में अधिभूतशक्ति और अधिदेव शक्ति का पूर्ण विकास रहने पर भी वह ज्ञान दाता होने के कारण ऋषियों के नायक माने जाते हैं। और उसी प्रकार विष्णु में अधिभूत शक्ति



और अध्यात्म शक्ति का पूर्ण विकास रहने पर भी वह देवी शक्ति समूह के केन्द्र होने से देवताओं के नायक हैं ॥३५-३७॥

पितरः ! वोऽधिकारोऽस्ति स्थूले जगति केवलम् ।  
पिण्डपुञ्जजेऽपि मर्त्यानां पिण्डेष्वेव विशेषतः ॥३८॥

हे पितृगण ! आप लोगों का अधिकार केवल स्थूल जगत् और पिण्डों में मनुष्य पिण्डों पर ही विशेषरूपसे है ॥३८॥

केवलं ज्ञानिनीवेषु त्वधिकारस्तथास्यलम् ।  
ऋषीणां नात्र सन्देहः किन्तु देवगणस्य वै ॥३९॥

ब्रह्माण्डानां हि सर्वेषां भागेष्यास्तेऽखिलेषु च ।  
अधिकारोऽस्त्यतस्तेषां देवानां सर्वमान्यता ॥४०॥

ऋषियों का अधिकार केवल ज्ञानी जीवों में ही है इसमें सन्देह नहीं परन्तु देवताओं का अधिकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड के सभी विभागों पर होने के कारण वह सर्वमान्य हैं ॥३९-४०॥

पितरः ! पञ्चकोपाश्च भुवनानि चतुर्दश ।  
समष्टिव्यष्टिरूपायां पिण्डब्रह्माण्डसंहतौ ॥४१॥

ओतप्रोतस्वरूपेण सन्तिष्ठन्ते न संशयः ।  
मम ब्रह्माण्डरूपस्य विराटदेहस्य कल्यदाः ! ॥४२॥

लोकाः सप्तोर्द्धवगा नाभिमुपुयीरि सन्त्यहाँ ।

अधोऽधः सप्त वर्तन्ते ध्रुवं नाभिश्च संस्थिताः ॥४३॥

हे पितृगण ! पञ्चकोष और चतुर्दश भुवन समष्टि और व्यष्टिरूप ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूह में निस्सन्देह ओत प्रोत हैं । ब्रह्माण्ड रूपी मेरे विराट् शरीर के, नाभि से ऊपर सात उद्धर्व लोक और नाभि के नीचे सात अधोलोक स्थित है। ॥४१-४३॥

अतः समाष्टरूपेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे वै चतुर्दश ।  
भुवनानि प्रधानानि विद्यन्ते नात्र संशयः ॥४४॥

पञ्चकोषास्तु तिष्ठन्ति व्याता गौणतयाऽत्र हि ।  
जीवदेहस्वरूपेषु कोषाः पिण्डेषु पञ्च च ॥४५॥

प्रधानास्सन्ति तेषां हि सम्बन्धाच्च चतुर्दश ।  
भुवनान्यप्रधानानि सन्तिष्ठन्ते निरन्तरम् ॥४६॥

इस कारण समष्टिरूपी ब्रह्माण्ड में चतुर्दश भुवन प्रधान हैं और पञ्चकोष उनमें गौणरूप से व्याप्त रहते हैं। और उसी प्रकार जीवदेहरूपी पिण्ड में पञ्चकोष प्रधान और उन पञ्चकोषों के सम्बन्ध से चतुर्दश भुवनों का सम्बन्ध अप्रधान रहता है। ॥४४-४६॥

अतो मे ज्ञानिनो भक्ता ऐशी शक्ति समाश्रिताः ।  
स्वपिण्डेष्वपि तिष्ठन्तः सूक्ष्मैर्नानाविधैर्दुतम् ॥४७॥

संस्थापयितुमर्हन्ति देवलोकैः सहान्वयम् ।



अन्यान्यसूक्ष्मलोकेषु निवसन्तोऽप्यतस्तथा ॥४८॥

संस्थापयितुमर्हन्ति स्वाधिपत्यं स्वधाभुजः ॥  
देवासुरगणाः सर्वे जीवपिण्डेष्वनुक्षणम् ॥४९॥

यही कारण है कि मेरी ऐसी शक्ति प्राप्त करने से मेरा ज्ञानीभक्त अपने पिण्ड में रहकर भी नाना सूक्ष्म देवीलोकों के साथ सम्बन्ध स्थापन कर सका है और इसी कारण हे पितरो! देवतागण अथवा असुरगण भी अन्यान्य सूक्ष्म लोकों में रहने पर भी जीवपिण्डों पर अपना अधिकार स्थापन सर्वदा कर सके हैं ॥४७-४९॥

पितरः ! पञ्चकोषा हि सर्वपिण्डप्रतिष्ठिताः ।  
आवृण्वन्तो विराजन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥५०॥

हे पितृगण ! पञ्चकोष सब प्रकार के पिण्डों में प्रतिष्ठित होकर मेरे स्वस्वरूपको श्राधरण किये हुए रहते हैं ॥५०॥

मध्यमासु निकृष्टासु तथोच्चैर्देवयोनिषु ।  
सर्वास्वप्यवतिष्ठन्ते पञ्चकोषा न संशयः ॥५१॥

चाहे निकृष्ट योनि हो, चाहे मध्यम मनुष्य योनि हो और चाहे उन्नत देवयोनि हो सबमें अवश्य ही पञ्चकोष विद्यमान हैं ॥५१॥

एतावांस्तत्र भेदोऽस्ति नूनं निम्नासु योनिषु ।  
पञ्चकोषा विकाशन्ते नैव सामान्यतोऽखिलाः ॥५२॥



निखिलानान्तु कोषाणां मर्त्यपिण्डेषु निश्चितम् ।  
विकाशः सर्वतः सम्यग्जायते नात्र संशयः ॥५३॥

ततोऽपि देवपिण्डेषु विकाशन्ते हि शक्तयः ।  
अधिकं खलु पश्चानां कोषाणां नात्र संशयः ॥५४॥

भेद इतना ही है कि निकृष्ट योनियों में सब कोषों का समान विकास नहीं होता। मनुष्य पिण्डमें सब कोषों का सम्यक विकास हो जाता है । और देवपिण्ड में उसके अतिरिक्त पञ्चकोष की शक्तियों का अधिक विकास हो जाता है। ॥५२-५४॥

पाञ्चकौषिकभूमिनां समानानां स्वभावतः ।  
सम्बन्धः सर्वपिण्डानां भूमिभिः सह वर्तते ॥५५॥

ऋषयोऽतो भवन्तश्च ममोपासकयोगिनः ।  
देवाः शक्तिविशेषैश्च विधातुं शक्नुवन्त्यलम् ॥५६॥

कार्यं कोषविशेषस्य पिण्डेध्वन्येषु चैकतः ।  
नैवात्र संशयः कश्चित्सत्यं जानीत सत्तमाः ! ॥५७॥

परन्तु पञ्चकोष की समान भूमि का सम्बन्ध सब पिण्डों के पञ्चकोषों की भूमियों के साथ स्वाभाविक रूपसे बने रहने से मेरे उपासक योगिगण, आपलोग, ऋषिगण अथवा देवतागण विशेष विशेष कोष का कार्य विशेष विशेष शक्ति के द्वारा एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड में कर सके हैं, इसका निःसंशय सत्य जाने। ॥५५-५७॥



वसन्ति देवाः पितरः ! ऊर्ध्वं लोकेषु सप्तम् ।  
सन्तिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तम् ॥५८॥

हे पितृगण ! ऊर्ध्वं सप्तलोकों में देवताओं का वास है और अधः  
सप्तलोकों में असुरों का वास है ॥५८॥

तमोमुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे ।  
लोकेऽस्त्यमुरराजस्य राजधानी त्वधस्तने ॥५९॥

दैव्याः सत्वप्रधानत्वात्सृष्टे राजानुशासनम् ।  
उच्चदैवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो ॥६०॥

अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके ।  
ऊर्ध्वं लोके स्थिता नित्यं नात्र कार्या विचारणा ॥६१॥

असुरगण की सृष्टि तमःप्रधान होने से असुरराज की राजधानी सप्तम  
अधोलोक में स्थित है परन्तु दैवी सृष्टि सत्वप्रधान होने के कारण और  
उन्नत दैवलोकों में राजानुशासन की अवश्यकता न रहने से देवराज  
की राजधानी तृतीय ऊर्ध्व लोक में स्थित है, इसमें कोई विचार की  
बात नहीं है। ॥५९-६१॥

विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्राबल्यसञ्जुपः ।  
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रवाधितुम् ॥३२॥

सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सन्ततं बहु ।

अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके ॥३३॥

उर्द्धवलोके स्थिता नित्यं विद्यते पितरो ध्रुवम् ।  
'उन्नतेषूर्द्धवलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः ॥६४॥

असुराणामतोऽप्येषु देवराजानुशासनम् ।  
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदाचन ॥६५॥

विशेषतः हे पितृगण ! असुरगण सदा प्रबलता लाभ करके, दैवी राज्य में विप्लव करके, सृष्टिसामञ्जस्य में बाधा डालने में सचेष्ट रहते हैं इस कारण से भी देवराज की राजधानी सदा तृतीय उर्द्ध लोक में ही स्थित रहती है। हे पितृगण ! उन्नत उर्द्ध लोकों में असुरों का प्रवेश भी सम्भव नहीं है। इस कारणसे भी वहां देवराज के राजानुशासन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है। ॥६२-६५॥

विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूप सगुणं धरन् ।  
सालोक्यञ्चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा ॥६६॥

दातुं मोक्षश्च सायुज्यं नानारूपहिं सप्तमे ।  
उर्द्धवलोके तथा षष्ठे विराजेऽहमनुक्षणम् ॥६७॥

उन्नतेषूर्द्धवलोकेषु सात्विकेषु स्वधाभुजः ।  
राजानुशासनस्यातः का वार्ता वर्तते खलु ॥६८॥

शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम् ।  
विचित्रो मध्यवर्त्यस्ति मृत्युलोको विभूतिदाः ! ॥६९॥

यथा गहर्स्थयमाश्रिय पुष्टाः स्युः सर्व आश्रमाः ।  
मृत्युलोकं समाश्रित्य भुवनानि चतुर्दश ॥७०॥

हे पितृगण ! मैं सगुणरूप को धारण करके विभिन्न उपासकों को सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्रदान करने लिये अनेकों रूप से षष्ठ और सप्तम ऊर्द्ध लोक में सदा विराजमान रहता हूँ। इस कारण उन उन्नत लोक समूह में राजानुशासन की तो बात ही क्या है शब्दानुशासनका भी वहाँ अधिकार नहीं है। हे पितृगण ! मध्यवर्ती मृत्युलोक अति विचित्र है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम समस्त आश्रमों का पोषक है उसी प्रकार मृत्युलोक ही चतुर्दश भुवनों का पोषक है ॥६६-७०॥

स्वातन्त्र्यं पूर्णमत्रास्ति कर्मसम्पादने यतः ।  
मृत्युलोकप्रतिष्ठाऽतो विद्यते निखिलोपरि ॥७१॥

क्योकि मृत्युलोक में कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होने के कारण उसको प्रतिष्ठा सर्वोपरि है ॥७१॥

यद्यप्युत्पद्यते मोक्षफलमुद्यान उत्तमे ।  
मृत्युलोके न सन्देहस्तद्वीजं किन्तु लभ्यते ॥७२॥

आर्यावर्त्तप्रदेशे हि कर्मभूमिस्वरूपिणि ।  
विशुद्धे याज्ञिके रम्ये सर्वर्तुवातशोभिते ॥७३॥

का वार्ताऽतोऽस्ति देवानामवतारीयविग्रहम् ।

आविर्भूतमिच्छाम्ययार्थावर्तेऽहमाश्रयन् ॥७४॥

मोक्षरूपी फल की उत्पत्ति, मृत्यु, लोकरूपी उद्यान में होनेपर भी उसका बीज विशुद्ध याज्ञिक सब ऋतुओं से सुशोभित कर्मभूमि आर्यवृत में सदा प्राप्त होता है इस कारण देवतागणकी तो बात ही क्या है मैं भी अवतारविग्रह को धारण करके आर्यावर्त में आविर्भूत होनेकी इच्छा रखता हूँ ॥७२-७४॥

मृत्युलोकस्य भूलोकान्तर्गतम्यास्ति विस्तृतिः ।  
महती नात्र सन्देहस्तद्विभागश्चतुर्विधः ॥७५॥

एको वः पितृलोकोऽस्ति मृत्युलोको द्वितीयकः ।  
प्रेतलोकस्तृतीयोऽस्ति चतुर्थो नरकाभिधः ॥७६॥

हे पितृगण ! मृत्युलोक भूलोक के अन्तर्गत होने पर भी भूलोक का विस्तार अधिक है। भूलोक के चार विभाग हैं, यथा आपलोगों का पितृलोक, मृत्युलोक, प्रेतलोक और नरकलोक ॥७५-७६॥

भूलोके भवतामेत्र लोकः स्वर्गः सुखपदः ।  
वस्तुता नात्र सन्देहो विधातव्यः स्वधाभुजः : ॥७७॥

वस्तुतः हे पितृगण ! आपलोगों का लोक ही भूलोक में सुख प्रद स्वर्गलोक है। ॥७७॥

कर्मभूर्मृत्युलोकोऽस्ति कर्मक्षेत्रञ्च यं जगुः ।  
प्रेतलोकस्तथैव स्तो लोकोऽपि नरकाभिधः ॥७८॥

दुःखदावानलबालापूरितौ भीषणावलम ।  
प्रेतलोकोऽस्ति संश्लिष्टो मृत्युलोकेन सर्वथा ॥७९॥

मृत्युलोक, कर्मभूमि है जिसको कर्म क्षेत्र कहते हैं और प्रेतलोक और नरकलोक घोर दुःख-दावानल से पूर्ण लोक हैं । वस्तुतः प्रेतलोक तो मृत्युलोक से ही सर्वथा संश्लिष्ट है ॥ ७८-७९ ॥

भुवर्लोकादयोऽन्ये वो लोकादूर्द्ध्वमवस्थिताः ।  
अस्यतश्चोर्द्ध्ववलोकानामधोलोकव्रजस्य च ॥८०॥

वैलक्षण्येन सार्धं वः सम्यक् परिचयो न हि ।  
यद्यप्यस्याञ्चतुर्लोक्यां धर्मराजानुशासनम् ॥८१॥

वरीवर्त्येव विस्तीर्णं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।  
दृढं कुर्यात् चेदयत्नं पितरो यूयमन्वहम् ॥८२॥

यमदण्डस्य साहाय्यमन्तरेणैव तद्द्वीलम् ।  
कृतार्था भवितुं स्रष्टेः सामञ्जस्यस्य रक्षणे ॥८३॥

हे पितृगण ! भुवर्लोक आदि अन्य लोक आपके लोक से परें स्थित हैं इसी कारण उन ऊर्द्ध लोकों तथा अधोलोकों के वैचित्र्य के साथ आपलोगों का विशेषरूप से परिचय नहीं है । हे पितृगण ! यद्यपि धर्मराज का अनुशासन इन चारों लोकों में विस्तृत है परन्तु आपलोग यदि दृढ प्रयत्न करें तो बिना यमदण्ड की सहायता के लिये ही सृष्टि के सामजस्य की सुरक्षा कृत कार्य हो सकते हैं ॥८०-८३॥



दण्डेनैव प्रजाः सर्वाः कर्तुं धर्मपरायणाः।  
यत्नो यद्यपि वर्तेत निस्सन्देहं शुभावहः ॥८४॥

किन्त्वहो येन यत्नेन प्रजाः सर्वाः कदाचन।  
दण्डर्हा एवं नैव स्युः स यत्नो ज्ञानिसन्निधौ ॥८५॥

प्रजाकल्याणरद्ध्यर्थमधिकं स्यात्सुखप्रदः।  
नास्ति कोऽप्यत्र सन्देहः सत्यमेतद्वृत्तीमि वः ॥८६॥

दण्ड के द्वारा प्रजा को धार्मिक बनाने का प्रयत्न तो शुभ ही है इसमें सन्देह नहीं तथापि यदि ऐसा प्रयत्न हो कि प्रजा, दण्डार्हा बने ही नहीं तो ऐसा प्रयत्न प्रजा कल्याण के लिये दण्ड की अपेक्षा अधिक कल्याणप्रद ज्ञानियों के निकट समझा जाता है ! इसमें कोई सन्देह नहीं है आपलोगो से सत्य कहता हूँ ॥८४-८६॥

मृत्युलोकाधिकारोऽस्ति सर्वलोकहितप्रदः।  
यतो देवासुरैः सर्वैः पितरः ! कर्मभूमितः ॥८७॥

मानवाल्लोकतो गत्वा प्राप्यन्ते चोक्तयोनयः।  
भोगावसाने जाते पाते तेषां स्वलोकतः ॥८८॥

भूयोऽप्यभ्युदयं प्राप्तुं मृत्युलोकोऽयमेव वै ।  
भवेदाश्रयणीयो हि सर्वथैव न संशयः ॥८९॥

हे पितृगण! मृत्युलोक का अधिकार सर्वलोक हितकर है क्योंकि देवत और असुर सभी कर्मभूमि मनुष्यलोक से ही जाकर उक्त योनियों को



प्राप्त करते हैं। और उनके भोगावसाना से पतन होने पर पुनः उनको अभ्युदय प्राप्ति के लिये मनुष्यलोक का ही सर्वथा आश्रय ग्रहण करना पड़ता है ॥८७-८९॥

अस्त्यङ्गं प्रेतलोकस्तु मृत्युलोकस्य निश्चितम् ।  
मृत्युलोकेन सम्बद्धौ लोकौ च द्विविधौ परौ ॥९०॥

उर्द्ध्वाधः संस्थितौ पितनरकाख्यौ यथाक्रमम् ।  
आश्रये मृत्युलोकस्य संस्थितौ नात्र संशयः ॥९१॥

आसाते खलु तो यस्माद्भोगलोकावुभावपि । मृत्युलोकव्यवस्थातो  
जायन्तेऽतः स्वधाभुजः ! ॥९२॥

स्वतो व्यवस्थितानीह भुवनानि चतुर्दश ।  
पूर्णधर्मस्वरूपस्य विकाशेन निरन्तरम् ॥९३॥

आत्मज्ञानप्रकाशस्य सहजं स्थानमुत्तमम् ।  
नन्वार्यावर्त एवास्ते कर्मभूमिर्न संशयः ॥९४॥

प्रेतलोक तो मृत्युलोक का अंग रूप ही है और मृत्युलोक से सम्बन्धयुक्त अन्य दोनों अधः उद्ध्वल लोक जो यथाक्रम नरकलोक और पितृलोक नाम से अभिहित होते हैं वह सब मृत्युलोक के आधार पर ही स्थित है क्योंकि वह सब भोगलोक ही हैं। इसकारण हे पितृगण ! मृत्युलोक की सुव्यवस्था होने से चतुर्दश भुवनों की सुव्यवस्था स्वतः ही हुआ करती है और धर्म के पूर्ण स्वरूप के





विकास के द्वारा आत्मज्ञान का प्रकाश होने का सहज स्थान तो कर्म भूमि आर्यावर्त ही है ॥९०-९४ ॥

पितरः ! साम्प्रतं वच्मि वैदिकं सारमत्र वः ।  
सावधानैर्भवद्भिश्च श्रूयतां स शुभावहः ॥९५॥

हे पितृगण ! अब इस विषयमें आपको वेद का सार मैं कहता हूँ सावधान होकर सुनो ॥९५॥

वर्णाश्रमाणां धर्माणां भवेद्वीनं सुरक्षितम् ।  
पित्रोमिकयोनूनं शुद्ध्या शोणितशुक्रयोः ॥९६॥

धर्मवर्णाश्रम सम्यक् पीठशुद्धिः स्वतो भवेत् ।  
पीठशुद्ध्या स्वतश्चक्रशुद्धिकार्यञ्च सिध्यति ॥९७॥

'धर्मपरायण माता पिताके रज वीर्य की शुद्धिके द्वारा वर्णाश्रम धर्म की बीज रक्षा होती है। वर्णाश्रमधर्म के द्वारा पीठशुद्धि स्वतः ही प्राप्त होती है और पीठशुद्धि द्वारा चक्रशुद्धि का कार्य स्वतः ही सम्पादित हो जाता है ॥९६-९७॥

यावती चक्रशुद्धिः स्यात्तावती वः प्रसन्नता ।  
प्रसीदन्नि प्रसादेन देवा वोऽभ्युदयं गताः ॥९८॥

जितनी चक्रशुद्धि होती है उतने ही आपलोग प्रसन्न होते हैं, आपकी प्रसन्नता से देवतागण अभ्युः, दयको प्राप्त होकर प्रसन्न होते हैं ॥९८॥

देवप्रसादमासाध जनाः प्रारब्धशालिनः ।  
ऋषिप्रसन्नतां लब्ध्या भवेयुह्वात्मवेदिनः ॥९९॥

दैवी प्रसन्नता लाभ करते हुए अन्तम प्रारब्धशाली मनुष्य ऋषियों की प्रसन्नता प्राप्त करके आत्मज्ञानी बन जाते हैं ॥९९॥

पूर्ण धर्मस्वरूपं हि शान्ते चित्ते प्रकाशते ।  
योगिनां मम भक्तानामात्मज्ञानां महात्मनाम् ॥१००॥

और मेरे भक्त योगिराज. आत्मज्ञानी महापुरुष के शान्त हृदय में ही धर्म का पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है ॥१००॥

यस्यां मनुष्यजातो स्यात्पित्रोः पूजा यथार्थतः ।  
ऋषीणां देवतानाञ्चावताराणां यथायथम् ॥१०१॥

मद्विभूत्यवताराणां स्यादाराधनमायलम् ।  
यत्र सप्तविधानाञ्च वृद्धानाममलात्मनाम् ॥१०२॥

पूजा स्यात्सन्ततं सम्यक् सत्कारेण समन्विता ।  
स्वयं संवर्दिता जातिरसौ संवर्द्धयेद्धि वः ॥१०३॥

हे पितृगण ! जिस मनुष्यजाति में मातापिता की यथार्थ पूजा प्रचलित है, जिस जाति में ऋषि और देवताओं के अवतारों तथा मेरी विभूति और अवतारों की यथायोग्य आराधना होती है और जिस मनुष्यजाति



में सप्त प्रकार के वृद्धों की नित्य सम्यक् पूजा होती है वह जाति स्वयं भी संवर्द्धित होकर आप लोगों को संवर्धित करती है ॥१०१-१०३॥

मिथः संवर्द्धनेनैवं स्याच्छ्रेयः परमं हितम् ।  
प्रसीदन्ति भवन्तो हि मर्त्यजातौ तु यत्र वै ॥१०४॥

सैव स्वास्थ्य तथा वीर्यं सदाचारं पवित्रताम् ।  
लभते नात्र सन्देहस्तूर्णं पूर्णं सुखं ध्रुवम् ॥१०५॥

और इसी प्रकार परस्पर संवर्द्धन द्वारा परम श्रेय उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यजाति पर आपलोग प्रसन्न होते हो वह जाति अवश्य ही शीघ्र स्वास्थ्य, वीर्य, पवित्रता और आचार को लाभ करती है ॥१०४-१०५॥

यस्यां जातौ गुणाः स्वच्छा उत्पद्यन्तेऽखिला अमी ।  
दैवानुकूल्यमाप्नोति सा जातिः शाश्वतीः समाः ॥१०६॥

और जिस जाति में ये सब उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं वह बहुत दिनों तक दैवानुकूल्य प्राप्त करती है ॥१०६॥

दैवानुकूल्यतो विद्याबलबुद्धिधनात्मिका ।  
नूनमासाद्यते शीघ्रं मम शक्तिश्चतुर्विधा ॥१०७॥

दैवानुकूल्यले शीघ्र ही बल, बुद्धि, विद्या और धनरूपी चतुर्विधा मेरी शक्तिकी प्राप्ति होती है ॥१०७॥



यच्च शक्तिलाभेन नन्नात्मज्ञानमूलिका ।  
स्वाधीना मतिभादेति नान कश्चन संशयः ॥१०८॥

इन चतुः शक्तियों के प्राप्त करने से आत्मज्ञानमूलक स्वाधीन प्रतिभाका अवश्य उदय होता है ॥१०८॥

स्वाधीना प्रतिभा जाति किलात्मज्ञानमूलिका ।  
परमोदारधर्मस्य पूर्ण ज्ञानं नयत्यलम् ॥१०९॥

आत्मज्ञानमूलक स्वाधीन प्रतिभा से जाति में परमोदार धर्म के पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है ॥१०९॥

मलाः कारणत्वञ्च सर्वांग परिपूरितः ।  
वहते नात्र सन्देहो धर्म एव सनातनः ॥११०॥

और सर्वांगो से पूर्ण सनातन धर्म ही मुझको प्राप्त कराने का कारण बनता है ॥११०॥

शाश्वतस्याहमेवास्मि सर्वलोकहितस्य हि ।  
आत्मज्ञानप्रसादस्य दातुर्धर्मस्य निश्चितम् ॥ १११ ॥

सर्वदा पितरो विज्ञाः ! प्रविष्टास्थानमुत्तमम् ।  
नैवात्र संशयः कार्यो विस्मयो वा कदाचन ॥११२॥

क्योंकि हे विज्ञ पितृगण ! मैं ही शाश्वत और, सर्व लोकहितकर तथा आत्मज्ञान के दातृरूपी धर्म के प्रतिष्ठा का स्थान हूँ। इसमें सन्देह अथवा विस्मय नहीं करना चाहिये ॥ १११-११२ ॥

अत्रैकोपनिषदृश्यमन्तिके वः स्वधाभुजः ।।  
गुहां प्रकाशयेऽसन्तमद्भुतं तत्पश्यत ॥११३॥

हे पितृगण ! इस सम्बन्ध से मैं उपनिषद का एक अद्भुत रहस्यपूर्ण दृश्य आपके सामने प्रकट करता हूँ, देखो। ॥११३॥

श्यामायाः प्रकृते स्तो द्वे रूपे परमाद्भुते ।  
यतः सैव जडा जीवभूता चैतन्यमव्यपि ॥११४॥

अज्ञानपूर्णरूपेण जडरूपं धरन्त्यसौ ।  
सृष्टिं प्रकाशयेच्छ्वनात्र कश्चन संशयः ॥११५॥  
असौ चैतन्यपूर्णा च भूत्वा स्रोतस्विन्ती मम ।  
स्वस्वरूपात्मके नित्यं पारावारे विशत्यहो ॥११६॥

मेरी श्यामा प्रकृति के दो रूप हैं, वही जडरूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी है। वह अज्ञान पूर्ण रूप में जडरूप धारण करके सदा सृष्टि को प्रकट करती है और चेतामयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्वस्वरूप पारावार में प्रवेश करती है ॥११४-११६॥

सरिन्निर्गत्य चिद्रूपा सा महाद्रेज्रडात्मकात् ।  
उद्विजे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे ॥११७॥



सलील स्वातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः ।  
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाध व्रजति स्वयम् ॥११८॥

वह चिन्मयी नदी जड़मय महापर्वत से निकलकर प्रथम उद्भिज्ज,  
तदनन्तर स्वेदज, तदनन्तर अण्डज, तदनन्तर जरायुज नामधारी  
खाद में सरलता से बहती हुई मनुष्य लोकरूपी अधित्यका में पहुंचती  
है ॥११७-११८॥

तस्या अधित्यकाया हि निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः ।  
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः ॥११९॥

उस अधित्यका के नीचे महती उपत्यकाएं और गह्वर आदि विद्यमान  
हैं ॥११९॥

यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः ।  
स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः ॥१२०॥

जिनमें उस पवित्र तरंगिणी का जल स्थान स्थान पर स्वतः ही वह  
जाया करता है ॥१२०॥

अव्या हतञ्च नीरन्ध्रयाविच्छिन्नं निरापदम् ।  
स्रोतस्तनितरां कृत्वा नदीधारां धरातले ॥१२१॥

विधातुं सरलां सौम्यामष्ट बन्धाः स्वधाभुजः ।



धर्मा वर्णाश्रमा एच निर्मिता नात्र संशयः ॥१२२॥

त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम् ।  
पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये ॥१२३॥

मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेश राजतेतराम् ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः !॥१२४॥

हे पितृगण! उस स्रोत को अप्रतिहत, नीरन्ध्र और अविच्छिन्न रखकर नदी की धारा को धरातल पर सरल रखने लिये वर्ण और आश्रम आठ बन्ध रखे गये हैं। इसी कारण वह लौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल पथ को अवलम्बन करके मुझमें परमानन्द-प्राप्ति के हेतु प्रवेश करती है। हे पितृगण ! इसमें आपलोग विस्मित न हों ॥१२१-१२४॥

निर्जरा निखिलास्तस्यां नद्यामानन्दपूर्वकम् ।  
सर्वदैवावगाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते ॥१२५॥

उभयोस्तटयोः तस्याः समासीना महर्षयः ।  
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम् ॥१२६॥

देवतागण उस नदी में आनन्दपूर्वक अवगाहन करके अभ्युदय को प्राप्त होते हैं और ऋषिगण उस नदी के दोनों तटों पर समासीन तथा ब्रह्मध्यान में मग्न होकर निःश्रेयस पद को प्राप्त होते हैं ॥१२५-१२६॥

यूयं दाढर्याया बन्धानां तेषाञ्चैव निरन्तरम् ।  
रक्षितुं तान् प्रवर्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः ॥१२७॥



भवतामत्र कार्ये च विश्वमङ्गलकारके।  
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्यः सहायिकाः ॥१२८॥

आपलोग निरन्तर उन बन्धों को सुदृढ़ रखनेके लिये उनके पास रहकर उनकी रक्षा करने में प्रवृत्त हों और आपके इस जगन मंगलकर शुभकार्य में सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सहायक हैं ॥१२७-१२८॥

इति श्रीशम्भुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
सदाशिवपितृसंवादे दैवलोक निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का सदाशिवपितृसंवादात्मक दैवलोकनिरूपण नामक चतुर्थे अध्याय समाप्त हुआ।





॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ पंचमोऽध्यायः : पांचवां अध्याय

अध्यात्मतत्त्व निरूपणम्

पितर ऊचुः ॥ १ ॥

पितृगण बोले ॥१॥

तवापारकृपाराशेर्ज्ञानाधार ! जगद्गुरो ।  
अस्माकं निखिलाः शङ्का निरस्ता नितरां विभो ! ॥२॥

हे ज्ञानाधार जगद्गुरो । हे विभो ! आप की अपार कृपा से हमारी सब  
शङ्काएँ दूर हुई ॥ २ ॥

देवराज्यरहस्यश्च श्रावं श्रावं दयानिधे ! ।  
अस्माभिः परमोत्साहः समासादि न संशयः ॥३॥

और हे दयानिधे ! दैवीराज्य का रहस्य सुन सुनकर हमें परम उत्साह  
प्राप्त हुआ ॥३॥

कृपयाऽऽध्यात्मिकं पुण्यं रहस्यं श्रावयाऽद्य नः ।  
शास्त्रसङ्घे कथं नाथ ! वेदार्थमतिपादके ॥४॥

वैमत्सं वै वरीवर्ति नैकमत्ये च सत्यपि ।  
धर्मस्याद्वैतरूपं स्यात्कथं वा हृदयङ्गमम् ॥५॥

अब आप कृपा करके हमें पवित्र अध्यात्म-रहस्य सुनाइये और हे नाथ ! यह बताइये कि वेदार्थप्रतिपादक शास्त्रों में मतभेद क्यों है और मतभेद रहते हुए धर्म का अद्वैतरूप कैसे हृदयङ्गम हो सकता है ॥४-५॥

सदाशिव उवाच ॥६॥

श्रीसदाशिव बोले ॥६॥

श्यामाया नास्ति मच्छक्तेः कोऽपि भेदो मया सह ।  
यतोऽव्यक्तदशायां सा मल्लीनैवाऽवतिष्ठते ॥७॥

हे पितृगण ! मुझमें और मेरी शक्ति श्यामा में कोई भी भेद नहीं है, क्योंकि वह अव्यक्त दशा में मुझमें लीन रहती है ॥७॥

अद्य यां मत्पृथग्भूतां श्यामां मेऽङ्के स्थितां पराम् ।  
निरीक्षन्ते भवन्तोऽस्या व्यक्तावस्थाऽस्यसौ ध्रुवम् ॥८॥

जो आपलोग मुझसे अलग तथा मेरे अंक स्थित श्यामा को देख रहे हैं, यह उसकी व्यक्त अवस्था है। ॥८॥

अस्म्यहं सच्चिदानन्दाद्वैतज्ञानमयो विभुः ।  
श्यामाया मन्न पार्थक्यं तदृशायां प्रतीयते ॥९॥

मैं सच्चिदानन्दमय और अद्वैत ज्ञान स्वरूप हूँ। उस दशा में श्यामा का मुझसे पार्थक्य अनुभूत नहीं हो सकता है ॥९॥

सद्भावं मे समाश्रिस यदाऽसौ प्रकृतिः परा ।  
मकटीकर्तुमानन्दविलासं जीयमोहकम् ॥१०॥

दृश्यमपञ्चसङ्घातस्वरूपं व्यक्तिमेत्यलम् ।  
तदाऽहमेव चिद्भावमाश्रितः स्यां निरीक्षकः ॥११॥

जब मेरी परा प्रकृति मेरे सत्भाव को आश्रय कर के जीवमुग्धकारी, दृश्य प्रपंच रूपी आनन्द-विलास को प्रकट करने के लिये व्यक्ता होती है तब मैं ही चित्भाव में स्थित रहकर ईक्षण करता हूँ। ॥१०-११॥

प्रकृतेः पुरुषस्यापि सच्छृङ्गारात्मकं जगत् ।  
तदेवोत्पद्यते नूनं पितरो नात्र संशयः ॥१२॥

मूलमाध्यात्मिकस्यास्ते रहस्यस्यैतदेव हि ।  
नात्र कश्चन सन्देहः कर्तव्यो विस्मयोऽथवा ॥१३॥

उसी समय हे पितृगण ! प्रकृति-पुरुष श्रृंगारात्मक संसार उत्पन्न होता है, यही अध्यात्मरहस्यका मूल है, इस में सन्देह अथवा विस्मय नहीं करना चाहिये ॥१२-१३॥



अविद्यारूपमाश्रिय प्रकृतिम निरन्तरम् ।  
जीवत्वं सर्वभूतेभ्यः सम्प्रदत्ते स्वधाभुजः ! ॥१४॥

भूयो विद्यास्वरूपं हि धृत्वा निःश्रेयसम्पदम् ।  
प्रदत्ते सैव जीवेभ्यो नात्र कार्या विचारणा ॥१५॥

मेरी प्रकृति ही हे पितृगण ! अविद्यारूप धारण करके सब जीवों को जीवत्व प्रदान करती है और पुनः मेरी प्रकृति ही विद्यारूप धारण करके जीवमुक्तिर्विधायिनी बनती है ॥१४-१५॥

अहन्तु केवलज्ञानस्वरूपः प्रकृतोरिदम् ।  
सृष्टिर्लीलाललामालं सनिरीक्षे मुहुर्मुहुः ॥१६॥

मैं केवल ज्ञानस्वरूप होकर प्रकृति की यह सब सृष्टि लीला देखा करता हूँ ॥१६॥

श्यामा सानन्दमके मे समासीनैव सन्ततम् ।  
विश्वलीलाललामेदं सलीलं वितनोत्यलम् ॥१७॥

श्यामा मेरे ही अंक पर आनन्दपूर्वक आसीना रहकर संसारकी इस विचित्र लीला को अनायास विस्तार करती है ॥१७॥

अस्य विश्वविलासस्य प्रकृत्या सहितस्य मे ।  
स्वरूपं हि यथातथ्यमात्मज्ञानेन दृश्यते ॥१८॥



ज्ञानिभक्तश्च यो मेऽलं द्रष्टुमेतद्यथार्थतः।  
स एव धार्मिकोऽध्यात्मरहस्यज्ञो यथार्थतः ॥१९॥

मत्सायुज्यमवाप्नोति भाग्यवान्नात्र संशयः ।  
मत्सायुज्यदशामेत्य लभते च कृतार्थताम् ॥२०॥

मेरे प्रकृति के सहित इस संसार विलास का यथार्थ स्वरूप आत्मज्ञान के द्वारा ही देखा जाता है और जो मेरा ज्ञानी भक्त इसको यथार्थरूप में दर्शन करने में समर्थ होता है वही भाग्यवान् परमधार्मिक अध्यात्म रहस्य का यथार्थ ज्ञाता होकर मेरे सायुज्यको लाभ करके कृतार्थ हो जाता है ॥१८-२०॥

यथा सञ्चालकास्सन्ति भवन्तः पितरो ध्रुवम् ।  
आधिभौतिकराज्यस्य देवाश्च निखिला यथा ॥२१॥

आधिदैविकराज्यस्य चालका अपि रक्षकाः ऋषयोऽध्यात्मराज्यस्य,  
चालका रक्षकास्तथा ॥२२॥

हे पितृगण ! जिस प्रकार आपलोग आधि भौतिक राज्य के चालक हो, जिस प्रकार देवतागण आधिदैविक राज्य के चालक और रक्षक हैं, उसी प्रकार ऋषिगण अध्यात्म-राज्य के चालक और रक्षक हैं ॥ २१-२२ ॥

स्वभावतो नियोज्येरन प्राणिनां सम्प्रवृत्तयः ।  
चतुर्धा नात्र सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥२३॥

हे पितृगण ! जीव की प्रवृत्ति स्वभावतः चार प्रकार से नियोजित होती है, इसमें संदेह नहीं ॥२३॥

प्रकृतिः शूद्रवर्णस्य दासी कामस्य सत्यलम् ।  
तमोधाराश्रिता शश्वज्जायते परिणामिनी ॥२४॥

प्रकृतिर्वैश्यवर्णस्य सत्यार्थनुचरी सदा ।  
अस्मिन् प्रधानतो लोके जायते परिणामिनी ॥२५॥

क्षत्रिय प्रकृतिधर्मलक्ष्येणैव प्रधानतः ।  
परिणामं किलाप्नोति पितरो नात्र संशयः ॥२६॥

ब्राह्मणप्रकृतिर्मुख्यं मोक्षलक्ष्य निरन्तरम् ।  
निजायत्तं प्रकुर्वाणा नूनमग्रे सरेदिह ॥२७॥

चातुर्वर्ण्यकधर्मस्य गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।  
रहस्यं पितरो नूनमेतदेवास्ति शाश्वतम् ॥२८॥

शूद्रप्रकृति काम की दासी होकर तम की धारा आश्रय करती हुई सदा परिणामिनी होती है। वैश्य प्रकृति प्रधानतः अर्थ की दासी होकर इस संसार में परिणामको प्राप्त होती है। क्षत्रिय-प्रकृति प्रधानता धर्मलक्ष्य से ही परिणाम को प्राप्त होती है और ब्राह्मण-प्रकृति प्रधानतः मोक्ष को अपने लक्ष्य धीन रखकर इस विश्व में अग्रसर होती है। हे पितृगण! यही चातुर्वर्ण्य धर्म का सनातन अति गुह्य रहस्य है ॥२४-२८॥

धर्ममोक्षपरा एवाकृष्यन्ते तेजसा मम ।  
या मे शक्तिः सदा जीवान् स्मार्क्षकपति माम्प्रति ॥२९॥

तदेव तेजः सम्प्रोक्तं यतो वेदान्तपारगैः।  
धर्ममोक्षात्मकं नित्यं स्वलक्ष्यं यः स्थिरीकृतम् ॥३०॥

पुण्यवन्तस्त एवाहो वाच्यास्तेजस्विनो ननु ।  
स्वभावतः प्रसीदन्ति तेषु देवर्षयो ध्रुवम् ॥३१॥

धर्म और मोक्ष के लक्ष्य करनेवाले ही मेरे तेज से आकृष्ट होते है, क्योंकि मेरी जो शक्ति जीवको मेरी ओर आकृष्ट करती है उसीको वेदान्तपारगों ने तेज कहा है। धर्म और मोक्ष को नित्य अपने लक्ष्य में रखनेवाले पुण्यात्मा तेजस्वी कहलाते हैं और उन पर देवताओं के तथा ऋषियों की स्वभावतः प्रसन्नता होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥२९-३१॥

अतोऽन्तःकरणेऽध्यात्मरहस्यस्य यथाक्रमम् ।  
विकाशो जायते तेषां नान कार्या विचारणा ॥३२॥

ततस्ते सल्लभन्तेऽन्ते मत्सायुज्यमसंशयम् ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्हे स्वधाभुजः ॥३३॥

इसी कारण उनके अन्तःकरण में अध्यात्म रहस्यक क्रमविकाश होता है और अन्त में वे निश्चय ही मेरे सायुज्य को प्राप्त कर लेते हैं; हे पितृगण ! इसमें विस्मय न करें ॥३२-३३॥

वर्तन्ते पितरो यानि भुवनानि चतुर्दश।  
ऋषीणामधिकारोऽस्ति सर्वथाऽक्षुण्ण एष्वलम् ॥३४॥

हे पितृगण ! ऋषियों का अधिकार चतुर्दश भुवनों में सर्वथा अक्षरण है ॥३४॥

यथा देवाधिकारो हि सर्वो सृष्टि समश्रुते ।  
देवानुशासिता सा स्यादसुरैर्वाऽनुशासिता ॥३५॥

ब्रह्माण्डपिण्डसञ्जुष्टां जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ।  
सम्पूर्णां ताम्पारव्याप्य दैवी शक्तिविराजते ॥३६॥

ज्ञानराज्याधिदैवानामधिकारस्तथैव हि ।  
अस्ति व्याप्तः किलषणां भुवनानि चतुर्दश ॥३७॥

किन्तु तत्रैव पिण्डेऽलं तेषां कार्यं प्रकाशते।  
'सम्पूर्णैः पञ्चकोषाणां विकाशैर्यः प्रपूरितः ॥३८॥

क्षेत्र ज्ञानविकाशस्य प्रजायेत स्वधाभुजः !  
नात्र कश्चन सन्देह ऋषीणां पूजनं ध्रुवम् ॥३९॥

जायते निखिलेष्वेव भुवनेषु प्रतिक्षणम्।  
प्रतिष्ठास्थानमास्ते मे यतो हि ज्ञानभूमयः ॥४०॥

जिस प्रकार देवताओं का अधिकार सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है।  
चाहे 'दैवी अनुशासन हो, चाहे आसुरी अनुशासन हो, ब्रह्माण्डा



पिण्डात्मक और जड़ चेतनात्मक सब सृष्टि में दैवी शक्ति व्याप्त है, उसी प्रकार ज्ञान के अधिष्ठातृ देवता ऋषियोंका अधिकार, चतुर्दश, भुवनमें परिव्याप्त है, परन्तु हे पितरों ! उनका कार्य उसी पिण्ड में प्रकट होता है जो पिण्ड पञ्चकोष के पूर्ण विकास से पूर्ण होकर ज्ञान विकास का क्षेत्र बन जाता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, सब भुवनों में ही ऋषिगण सदा पूजे जाते हैं। क्योंकि ज्ञान भूमियाँ ही मेरी प्रतिष्ठा का स्थान है ॥३५-४०॥

पितरो ज्ञानराज्यस्य विस्तीर्णस्य रहस्यकम् ।  
अपूर्व भवतो वच्मि श्रूयतां सुसमाहितः ॥४१॥

हे पितृगण! ज्ञानराज्य विस्तार का अपूर्व रहस्य मैं आप लोगोंसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥४१॥

ममैवाध्यात्मिकज्ञानमूलिकाः शास्त्रराशयः ।  
स्थूलान्नमयकोषेण सम्बन्धस्थापनक्षणे ॥४२॥

स्थूलाक्षरमयै रूपैर्वर्तेरन् पुस्तकात्मकैः ।  
अत्र नानाविधैर्नूनां विश्वस्मिन् सम्मकाशिताः ॥४३॥

मेरे अध्यात्मज्ञान-मूलक शास्त्रसमूह स्थूल अन्नमय कोष से सम्बन्ध रखने के समय इस संसार में अनेक प्रकार से प्रकाशित स्थूल अक्षरमय पुस्तकों के रूपमें विद्यमान रहते हैं ॥४२-४३॥

स्थूलपुस्तकपुञ्जोऽयं यद्यप्यास्ते विनम्वरः ।  
स्थूलाक्षरमयानाञ्च पुस्तकानां यथायथम् ॥४४॥

भवेतामीदृशां देशकालपात्रमभेदतः ।  
आविर्भारतिरोभावौ यथाकालं न संशयः ॥४५॥

सूक्ष्मराज्ये तु शास्त्राणां नित्यसंस्थितिहेतवे ।  
चतुर्विधानि वर्तन्ते पुस्तकान्यपराण्यपि ॥४६॥

ब्रह्माण्डपिण्डौ नादश्च बिन्दुरक्षरमेव च ।  
पञ्चप्रकारकाण्याहुः पुस्तकानि पुराविदः ॥४७॥

यद्यपि स्थूल पुस्तक समूह नाशवान हैं और इस प्रकार के स्थूल अक्षरमय पुस्तक-समूह का देश, काल और पात्र के प्रभेद से समय पर, आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, परन्तु सूक्ष्मराज्य में शास्त्रो की नित्य स्थिति रहने के लिये और भी चार प्रकार की पुस्तके हैं। इसी कारण पुस्तकों के पांच भेद हैं; यथा, ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षरमय। ॥४४-४७॥

श्रुतिनदि स्मितिर्विन्दौ ब्रह्माण्डे तन्त्रमेव च ।  
पिण्डे च वैद्यकं शास्त्रमक्षरेऽन्यदुदाहृतम् ॥४८॥

इन पांच प्रकार की पुस्तको का एक उदाहरण बताया जाता है। नादमयी पुस्तक का उदाहरण श्रुति है, बिन्दुमयी पुस्तक का उदाहरण स्मृति है, ब्रह्माण्ड मयी पुस्तक का उदाहरण तंत्र है, पिण्डमयी पुस्तक का उदाहरण वैद्यक शास्त्र है और इनसे

अतिरिक्त पृथ्वी के अन्यान्य ग्रन्थ अक्षर मयी पुस्तक के उदाहरण हैं  
॥४८॥

नूनं ज्ञानस्य निसत्वान्नित्याः शास्त्रसमुच्चयाः ।  
एते पञ्चविधेषु कापि तिष्ठन्ति पुस्तके ॥४९॥

पञ्चप्रकारकं सर्वं पुस्तकं प्रलयक्षणे ।  
वेदेषु प्रविलीयैव भजते मां न संशयः ॥५०॥

ज्ञान नित्य होने के कारण नित्य शास्त्र समूह इन पुस्तको में से किसी  
पुस्तक में अवश्य विद्यमान रहते हैं और प्रलयावस्था में भी ये  
पुस्तकसमूह वेद में लय होकर मुझको प्राप्त होते हैं। ॥४९-५०॥

पञ्चभावप्रपन्नानां पुस्तकानां स्वधाभुजः ।  
रक्षका ऋषयो नूनं विद्यन्ते च प्रकाशकाः ॥५१॥

हे पितृगण! ऋषिगण ही इन पञ्चभावापन्न शास्त्रोंके प्रकाशक और  
रक्षक हैं ॥५१॥

अध्यात्मज्ञानमास्ते हि विभक्तं सप्तभूमिषु ।  
ऋषिशब्दे यतो ज्ञानभूमिज्ञानप्रकाशके ॥५२॥

भेदोऽवश्यं भवेदत्र संशयावसरः कुतः ।  
ऋषिप्रवर्तिते स्वच्छे निदिध्यासंव्रमनि ॥५३॥

अधिकारप्रभेदाश्च सम्भवेयुर्न संशयः ।  
ऋषीणां किन्तु लक्ष्येषु भेदो नास्ति कदाचन ॥५४॥

और अध्यात्मज्ञान सप्त भूमि क्षाओं में विभक्त होनेको कारण उन ज्ञान भूमियों के ज्ञान के प्रकाशक ऋषियों के शब्दों में अवश्य भेद रहता है और ऋषियों के द्वारा प्रवर्ति निदिध्यासन-मार्ग के अधिकारों में भी अवश्य भेद रहता है, परन्तु ऋषियों के लक्ष्य कदापि भेद नहीं रहता है ॥५२-५४॥

सिद्धान्तेषु स्वकीयेषु विनाऽभ्रान्ति स्वधाभुजः ।  
स्वस्वपदर्शितज्ञानमार्गे वा केऽपि नेशते ॥५५॥

ऋषीणां पदवीं पुण्यां परिलधुं कदाचन ।  
निश्चितं वित्त पितरो नात्र कश्चन संशयः ॥५६॥

हे पितृगण ! अपने अपने सिद्धान्त मे और अपने अपने प्रदर्शित ज्ञानपथ मे अभ्रान्त हुए बिना कोई भी ऋषि पदवी को नहीं प्राप्त कर सकता। हे पितृगण ! इसको निश्चित जानो, इसमें संदेह नहीं है ॥५५-५६॥

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः कथ्यन्ते नात्र संशयः ।  
शब्दास्त एव मन्त्राः स्युर्ये मद्रूपप्रकाशकाः ॥५५॥

अतो ये शक्नुवन्तीह मन्त्रान् द्रष्टुं स्वधाभुजः।  
अहो मामपि ते द्रष्टुं क्षमन्ते नात्र संशयः ॥५८॥

मंत्र के द्रष्टा ऋषि कहते हैं। मेरे रूप का बतानेवाला जो शब्द है उसी को मन्त्र कहते हैं। इस कारण जो मन्त्रको देख सकते हैं वह मुझे भी देख सकते हैं ॥५७-५८॥

दुर्दमाया हि मांयायाः प्रभावांपितरो ध्रुवम् ।  
यद्यपि स्वस्वरूपं मे वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरम् ॥५९॥

अथवा चिद्विलासस्य तस्य ज्ञानं यथार्थतः ।  
नानुभूतं भवेन्नूनं निखिलर्षयन्तरात्मनि ॥६०॥

तथापि मन्त्रद्रष्टृत्वात्ते मज्ज्ञानावबोधिनः ।  
भवेयुर्नात्र सन्देहः सत्यमेतब्रवीमि वः ॥६१॥

हे पितृगण ! यद्यपि मेरी दुर्दमनीय माया के प्रभाव से मेरे वाक् मन और बुद्धि से अगोचर स्वस्वरूप अथवा उसके चिद्विलास का ज्ञान सब ऋषियों को सम्यक् प्रकार से अनुभूत न होता हो, परन्तु वे मन्त्रद्रष्टा होने से मेरे ज्ञान के ज्ञाता हैं, इसमें संदेह नहीं। यह मैं सत्य कहता हूँ। ॥५९-६१॥

अतः परस्परं तेषां मतं नूनं स्वधाभुजः ।  
मयथार्थस्वरूपस्य ज्ञाने नैव विभिद्यते ॥६२॥

अतः मेरे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में उनके परस्पर यथार्थ रूप से मतभेद हो नहीं सकता है ॥६२॥

पुरुषार्थाधिकाराणां भेदैहि ज्ञानभूमिषु ।  
विरोध इव भासेत भूमिभेदैश्च केवलम् ॥६३॥

केवल भूमिभेद, अधिकारभेद और पुरुषार्थभेद होने के कारण इन ज्ञान भूमियों में विरोधाभास प्रतीत होता है ॥६३॥

मत्तः पराङ्मुखा एव तत्त्वज्ञानावकण्टके ।  
पतन्यैवविध गर्ने विरोधभ्रमपङ्किले ॥६४॥

मुझसे विमुख लोग ही तत्त्वज्ञान के पथ के कण्टक रूपी ऐसे विरोध और भ्रम से भरे हुए गड्ढे में पतित हुआ करते हैं ॥६४॥

यथा पर्वतवास्तव्या मानवाः शिक्षयन्त्यहो ।  
स्वानुरूपां गति विज्ञाः ! समभूमिनिवासिनः ॥६५॥

एकस्या ज्ञानभूमेश्च तथा दर्शनशासनम् ।  
स्त्रीयां गति प्रशंसन्तो दूषयन्तश्च तद्गतिम् ॥६६॥

विज्ञानरीतिमन्यस्याः कचिद्विप्रतिपादयेत् ।  
नास्ति तत्खण्डनं कल्याः ! मतस्यान्यस्य निश्चितम् ॥६७॥

अपि तु स्वमतस्यास्ति पोषकं सर्वथा यतः ।  
तत्खण्डनमतो भक्ता ज्ञानिनो मण्डनं विदुः ॥६८॥

हे विज्ञो ! पर्वतवासी मनुष्य जिस प्रकार समतलवासी मनुष्यों के चलने की शैली का दोष दर्शन करके अपनी गति की प्रशंसा करते

हुए पर्वत-आरोहण प्रणाली सिखाया करते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ज्ञान भूमिका दर्शन दूसरी ज्ञानभूमि के दर्शन शास्त्रों की विज्ञान शैली का कदाचित् खण्डन करता है, उसको मेरे ज्ञानो भक्त परमत का खण्डन नहीं समझते बल्कि स्वमत को पुष्टि समझते हैं ॥६५-६८॥

यदा सुकवयो नैशमाकाशं वर्णयन्त्यहो ।  
दिवाकाशस्तदा नूनं स्वत एवावधीर्यते ॥६९॥

दिवाकाशप्रशंसायां कृतायां कविभिः खलु ।  
व्योमो नैशंस्य जायेत स्वत एव पराभवः ॥७०॥

सप्तानां ज्ञानभूमीनां तथा दर्शनसप्तके ।  
निन्दकानि च वाक्यानि स्तवकानि कचित् कचिद् ॥७१॥

लभ्यन्ते यैर्विमुह्यन्ति मानसान्यल्पमेधसाम् ।  
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥७२॥

कवि जब रात्रि के आकाश का वर्णन करता है तो स्वतः ही दिन के आकाश की निन्दा हो जाती है और जब वह दिन के आकाश का वर्णन करता है तो रात्रि के आकाशकी निन्दा स्वतः ही हो जाती है, इसी प्रकार निन्दा स्तुति का सम्बन्ध इन सातों ज्ञानभूमियों के दर्शनशास्त्रोंम कहीं कहीं पाया जाता है, जिससे अल्पबुद्धियोंका मन घबरा जाता है। हे पितृगण ! इसमें आपलोग विस्मय न करें ॥६९-७२॥

केवलं पितरो ज्ञानभूमिपार्थक्यतो ध्रुवम् ।  
स्वरूपे चिन्मये तैर्न निरीक्ष्येऽहं पृथक् पृथक् ॥७३॥

हे पितृगण ! केवल ज्ञानभूमियों की पृथक्ता से ही मैं चिन्मय स्वरूप में उनको पृथक् पृथक् दिखाई पड़ता हूँ ॥७३॥

पार्थक्याज्ञानभूमीनां तत्पार्थक्यं न तत्त्वतः ।  
यथा सोपानतो मर्त्य एकस्मादपरं क्रमांद ॥७४॥

प्रासादस्य समारोहन पृष्ठमारोहति ध्रुवम् ।  
शास्त्रासक्तास्तथा भक्ता लभन्ते सन्निधि मम ॥७५॥

वह पृथक्ता ज्ञान भूमि के कारण है, तत्त्वतः नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य एक सोपान के वाद दूसरा सोपान आरोहण करता हुआ अन्त में छत पर चढ़ ही जाता है, उसी प्रकार शास्त्रनिरत मेरे भक्त मुझ तक पहुंच ही जाते हैं ॥७४-७५॥

शास्त्रान्तरमतानाञ्च भेदोऽप्येवं विबुध्यताम् ।  
क्रियतां नात्र सन्देहो विस्मयो न विधीयताम् ॥७६॥

हे पितृगण ! शास्त्रान्तरों का मतभेद भी ऐसा ही जानिये, इसमें सन्देह या विस्मय न करिये ॥७६॥

भावैराध्यात्मिकैः पूर्णः शास्त्रपुञ्जो यतोऽजनि ।  
ऋतम्भराख्यबुद्धेश्चाधिकारिभेदलक्ष्यतः ॥७७॥



अतो यथार्थतो नास्ति गिधोऽमुष्य विरोधिता ।  
मत्याऽप्यनादिकां ब्रह्माश्रयीभूताश्च भूतिदाः! ॥७८॥

मायां वैदान्तिकाः सान्तां मन्यन्ते जगतो यतः ।  
असत्यत्वं प्रमातुं वै क्षमन्ते स्म न संशयः ॥७९॥

भक्तिशास्त्रे पुनर्देवीमीमांसानामके हिते ।  
मायां तां ब्रह्मणः शक्ति मत्वा भक्तैः प्रकल्प्यते ॥८०॥

अभिन्नत्वं तयोः कल्याः ! उभयोर्ब्रह्ममाययोः ।  
शक्तिशक्तिमनार्यस्मात् भेदाभावः प्रसिध्यति ॥८१॥

मेरे अध्यात्मभाव से पूर्ण शास्त्र समूह ऋतम्भरा से उत्पन्न होने के कारण और अधिकारि भेद के लक्ष्य से कहे जाने के कारण इनका परस्पर यथार्थ विरोध नहीं है। वेदान्त शास्त्र ने माया को ब्रह्म की आश्रयभूता अनादि मानकर भी सान्त माना है। इसी कारण यह शास्त्र जगत को मिथ्यारूप प्रमाणित कर सका है एवं हे पितृगण ! देवीमीमांसा रूपी उपासना काण्ड सम्बन्धीय भक्ति शास्त्र ने माया को ब्रह्मशक्ति मानकर ब्रह्म और माया अभेद, बताया है; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभेद होना प्रसिद्ध है ॥७७-८१॥

लोके शक्तेर्यथा नास्ति भेदः शक्तिमता सह ।  
ब्रह्मशक्तेस्तथा नास्ति भेदो वै ब्रह्मणा सह ॥८२॥

जैसे मैं और मेरी शक्ति, ऐसा कहने में दोनों का अभेद सिद्ध होता है, ऐसे ही ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति माया में अभेद है। ॥८२॥

यथा शक्तिमतः शक्तिस्तत्रैवाऽव्यक्ततां गता। कदाचिद्व्यक्तिमापन्ना  
तत्पृथक्त्वेन भासते ॥८३॥

तथैवोपासनाशास्त्रविधानेन स्वधाभुजः।  
सृष्टेर्दशायां द्वैतत्वं मुक्तावद्वैतता मता ॥८४॥

जैसे शक्तिमान की शक्ति उसमें कभी अव्यक्त रहती है और कभी उससे प्रकाशित होकर अलग प्रतीत होती है उसी प्रकार उपासना-शास्त्र के अनुसार सृष्टिदशा में द्वैतवाद और मुक्ति दशा में अद्वैतवाद, दोनों ही सिद्ध होते हैं ॥८३-८४॥

एतद्विज्ञानतो नूनमद्वैतद्वैतयोर्द्वयोः।  
कश्चिद्विरोधो नैवास्त्युपासना सिद्धयति त्वलम् ॥८५॥

सुतरां इस विज्ञान के अनुसार द्वैत और अद्वैतवाद का कोई भी विरोध नहीं हो सकता और उपासना की सर्वथा सिद्धि होती है ॥८५॥

तत्त्वजिज्ञासकः कल्याः ! एवमेव समन्वयः ।  
साङ्ख्यादिदर्शनैः सार्द्धं वेदान्तस्य भवेदधुवम् ॥८६॥

अतोऽयुक्तास्ति शास्त्रेषु विरोधस्यैव कल्पना।  
तस्मान्द्रवाद्भिः शास्त्रेषु विरोधो नैव दृश्यताम् ॥८७॥

हे पितरो ! सांख्य आदि शास्त्रों के साथ वेदान्तशास्त्र का समन्वय भी इसी ढंग पर हो सकता है, इस कारण शास्त्रों में विरोध की कल्पना



करना उचित नहीं है। इसलिये आप लोग शास्त्रों में विरोध न देखें  
॥८६-८७॥

ज्ञानस्य पितरो नूनं तिस्रः श्रेण्यो भवन्ति ।  
तत्राधिभौतिक ज्ञानं शाखानन्त्यसमन्वितम् ॥८८॥

आद्यं पदार्थविद्यायां परिणामं ब्रजत्यलम् ।  
नन्वाधिदैविकं ज्ञानं द्वितीयं पितरस्तथा ॥८९॥

अनेकाभिश्च शाखाभिरुपेतं विद्यते ध्रुवम् ।  
यतो दैवं जगन्नूनं विद्यतेऽतीव विस्तृतम् ॥९०॥

स्थूलसृष्टेस्तदेवास्ते कारणं पितरस्तथा ।  
परन्त्वन्तिममध्यात्मज्ञानं वै सप्तभूमिषु ॥९१॥

संविभक्तं वरीवर्त्तिं केवलं नात्र संशयः ।  
तस्यानेकासु शाखामु विद्यमानास्वपि ध्रुवम् ॥९२॥

विभक्ताः स्युश्च ताः सर्वाः सप्तस्वेव हि भूमिषु ।  
तदैव ज्ञानमाध्यात्मं प्रपूर्णश्चैव जायते ॥९३॥

यदा सर्वेषु भूतेष्वविभक्तोऽद्वैत एककः ।  
ज्ञानदृष्ट्या निरीक्ष्येत भावो नूनं स्वधाभुजः ! ॥९४॥

देशे काले च पात्रे च सर्वत्रैवात्मवेदिभिः ।  
न च कुत्रापि वाध्येत यदा तज्ज्ञानलोचनम् ॥९५॥

हे पितृगण ! ज्ञान की तीन श्रेणियां हैं, आधिभौतिक ज्ञान अनन्त शाखा युक्त होकर अनेकों पदार्थ विद्याओं में परिणत हुआ है; वह प्रथम है। द्वितीय आधिदैविक ज्ञान भी बहुशाखायुक्त है क्योंकि दैवी जगत् भी अतिविस्तृत है और दैवजगत् ही स्थूल सृष्टि का कारण है; परन्तु अन्तिम अध्यात्मज्ञान केवल सात भूमियों में ही विभक्त है उसकी अनेक शाखाएँ होने पर भी सभी सात भूमियों में ही विभक्त होती हैं और आध्यात्मिक ज्ञान की पूर्णता तभी होती है जब सभी भूतों में अविभक्त एक अद्वितीय भाव को ज्ञानदृष्टि से सब देश कालपात्र में देखा जाए और कहीं वह ज्ञानदृष्टि बाधा को प्राप्त नहीं हो ॥८८-९५॥

वेदसम्मतशास्त्रीया शैली सोपानसनिभा।  
एतदाध्यात्मिकं ज्ञानं समुत्पाद्यैव प्राणिनः ॥९६॥

पितरः! मापयत्यन्ते मत्सायुज्यं न संशयः ।  
मत्सायुज्यदशां नीत्वा कृतार्थत्वं नयत्यलम् ॥९७॥

वैदिकानां हि शास्त्राणामेषैवास्ति अपूर्णता।  
महत्त्वञ्चैतदेवास्ति तेषां नैवात्र संशयः ॥९८॥

वेदसम्मत शास्त्रीय सोपान शैली इसी अध्यात्म ज्ञान को उत्पन्न करके जीवों को मत्सायुज्य प्राप्त कराती है और मेरे सायुज्य को प्राप्त कराकर कृतार्थ कर देती है । यही वैदिक शास्त्रों का अवश्य पूर्णत्व और महत्त्व है ॥९६-९८॥

नूनमाश्रमधर्मोऽपि ज्ञानस्यास्य सहायकः ।

उत्पादने वरीवर्ति परमः पितृपुङ्गवाः ! ॥९९॥

और आश्रम धर्म इसी ज्ञानके उत्पन्न करने में परम सहायक है ॥९९॥

ब्रह्मचर्याश्रमे नूनं गुरुसेवाविधानतः ।  
लक्ष्यमध्यात्मविद्याया लभ्यते ब्रह्मचारिभिः ॥१००॥

लक्ष्यमात्मवलस्यापि गृहस्थैः संयमेन च ।  
वानप्रस्थाश्रमस्थैश्च तपसाऽऽत्मधनं ध्रुवम् ॥१०१॥

सन्यासिभिस्तु त्यागेनैवात्मधर्मोऽधिगम्यते ।  
सर्वेषां पुरुषार्थानां यदास्ते फलमन्तिमम् ॥१०२॥

वर्तते पितरोऽध्यात्मज्ञानस्याऽदः परम्पदम् ।  
नात्र कश्चन सन्देहो विधेयो विस्मयोऽथवा ॥ १०३ ॥

हे श्रेष्ठ पितृगण ! ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी आत्मविद्या के लक्ष्य को गुरुसेवा से प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रमी आत्मबल के लक्ष्य को संयम के द्वारा प्राप्त करते हैं। वानप्रस्थाश्रमी आत्मधन को तप के द्वारा प्राप्त करते हैं। और सन्यासाश्रमी आत्मधर्म को त्यागके द्वारा प्राप्त करते हैं। जो सब पुरुषार्थी का चरम फल है और अध्यात्मज्ञान का परमपद है। इसमे सन्देह या विस्मय न करना चाहिये ॥१००-१०३॥

अतो मे ज्ञानिनो भक्ताः सन्न्यासाश्रमवर्तिनः ।  
आत्मधर्मसमायुक्ता मत्सायुज्यं व्रजन्त्यलम् ॥ १०४ ॥



इसी कारण मेरे ज्ञानी भक्त सन्यासीगण आत्मधर्म युक्त होकर  
मत्सायुज्य को प्राप्त करते हैं ॥१०४॥

राजानः केऽपि संसारे विविधैश्वर्यशालिनः ।  
वाणिजो वित्तपूर्णा वा वस्तुतो धनिका न हि ॥१०५॥

ऐश्वर्यञ्च धनं तेषां यतः स्यात्क्षणभङ्गुरम् ।  
अकिञ्चित्करमप्यास्ते पितरो नात्र संशयः ॥१०६॥

वस्तुतस्त्विह संसारे वानप्रस्थास्तपोधनाः । .  
आत्मधर्म तथैवात्मधनं सन्न्यासिनो गताः ॥१०७॥

ऐश्वर्यशालिनः सन्ति धनिकाश्चैव निश्चितम् ।  
नैवात्र संशयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥१०८॥

हे पितृगण ! इस संसार में परम ऐश्वर्यवान् राजा अथवा अति धनवान्  
वणिक वास्तव में धनवान् नहीं है क्योंकि उनका ऐश्वर्य और धन  
क्षणभङ्गुर और अकिञ्चित् कर है और तपोधन प्राप्त वानप्रस्थ  
अथवा आत्मधन और आत्म धर्म प्राप्त सन्न्यासी ही यथार्थ में ऐश्वर्यवान्  
और धनी है इसमें , आपलोग सन्देह न करें ॥१०५-१०८॥

आर्यजातौ क्रमान्नूनं शुद्धिः शोणितशुक्रयोः ।  
पीठशुद्धेः समुत्पत्तौ परमास्ति सहायिका ॥१०९॥

अध्यात्मलक्ष्यद्वारैव चक्रशुद्धिर्यथाक्रमम् ।  
लभ्यते नात्र सन्देहो विद्यते पितरो ध्रुवम् ॥११०॥

हे पितृगण ! रजवीर्य की शुद्धि ही क्रमशः आर्यजाति में पीठ शुद्धि को उत्पन्न करने की परम सहायक है और अध्यात्म लक्ष्य के द्वारा ही क्रमशः चक्रशुद्धि प्राप्त हुआ करती है इसमें सन्देह नहीं है।  
॥१०९-११०॥

अतो वार्णाश्रमा धर्माः प्रवृत्ते रोधकास्तथा ।  
निवृत्तेः पोषकाः सन्तो संशुद्धिं पीठचक्रयोः ॥१११॥

समुत्पादयितुं नूनं पराः सन्ति सहायकाः ।  
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते हे स्वधाभुजः ! ॥११२॥

इसी कारण वर्णधर्म और आश्रमधर्म प्रवृत्ति रोधक और निवृत्ति पोषक होते हुए पीठशुद्धि और चक्रशुद्धि के परम सहायक बनो करते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १११-११२ ॥

इच्छाम्यहं निजानन्दे द्वैतभावं निमज्जितुम् ।  
आधावस्थेयमेवास्ते पितरो नात्र संशयः ॥११३॥

मम शक्तिस्ततः श्यामा मत्त एव प्रकाश्य च ।  
ब्रह्मानन्दसमुल्लासरूपिणो जगतोऽस्य हि ॥११४॥

निदानं जायते नूनं द्वैतभावे मनोहरे ।  
असादेव द्वितीयास्ति नन्यवस्था स्वधाभुजः! ॥११५॥

हे पितृगण ! मैं अपने आनन्द में मग्न होने के लिये द्वैत की इच्छा करता हूँ यह प्रथम अवस्था है। तत्पश्चात् मेरी शक्ति मुझ ही से प्रकट होकर श्यामा रूपिणी हो मनोरम द्वैतभाव मे ब्रह्मानन्द विलासरूपी जगत का आदि कारण बनती है, यही द्वितीया अवस्था है ॥११३-११५॥

नारीधारा नृधारा च स्वतन्त्रा भुवने ततः ।  
बैजीमारभते साष्टिं तृतीया स्यादियं दशा ॥११६॥

नारीधारा प्रपूर्णत्वं सम्प्राप्ता तदनन्तरम् ।  
सतीधर्मप्रभावेण नृधारायां विलीयते ॥११७॥

इयमेव चतुर्थी स्यादवस्था पितरो ध्रुवम् ।  
स्वानुकूलां ततः शक्तिं निजां लब्ध्वा नरर्षभाः ॥११८॥

शक्तिमन्तः प्रपूर्णत्वं स्वाधीनत्वं च यान्ति वै ।  
पञ्चमी विद्यते नूनमवस्थेयं न संशयः ॥ ११९ ॥

आचारवान् वै पुरुषो नूनं स्यात्तदनन्तरम्  
इयं षष्ठी दशा बोध्या भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ! ॥

जातिधर्माविकाशस्य पूर्णत्वं जायते ततः।  
इयं हि सप्तमी नूनमवस्थाऽऽस्ते स्वधाभुजः! ॥१२१॥

ततः शरीरसंशुद्धिः शूद्रधर्मेण जायते ।  
इयं वै वर्ततेऽवस्था सर्वथा पितरोऽष्टमी ॥१२२॥



इन्द्रियाणां ततः शुद्धिर्वैश्यधर्मेण जायते ।  
इयं भोः पितरोऽवस्था नवमी सम्प्रकीर्तिता ॥१२३॥

मनोराज्यस्य संशुद्धिः स्यात्ततः क्षात्रधर्मतः।  
इयमेवास्ति हे कल्याः ! अवस्था दशमी ध्रुवम् ॥१२४॥

बुद्धिराज्यस्य संशुद्धया ततो ब्राह्मणधर्मकः।  
पुनाति प्राणिनो नूनं दशैपैकादशी मता ॥१२५॥

हे पितृगण! तत्पश्चात् संसार में स्त्रीधारा और पुरुष धारा दो स्वतन्त्र होकर वैजी सृष्टि प्रारम्भ होती है यही तृतीयावस्था है। तत्पश्चात् जब स्त्री धारा पूर्णतो को प्राप्त होती है तो वह पुनः सतीत्व धर्म के प्रभाव से पुरुषधार लय को प्राप्त होती है यही चतुर्थ अवस्था है। तत्पश्चात् निज शक्ति को अपने अनुकूल पाकर शक्तिमान होकर पुरुष स्वाधीन और पूर्ण बनता है यही पञ्चमावस्था है। हे पितृवरो ! तत्पश्चात् पुरुष आचारवान होता है, यही षष्ठ अवस्था है। तत्पश्चात् जातिधर्म का पूर्ण विकास होता है यही सप्तम अवस्था है। तत्पश्चात् शुद्रधर्म से शरीर की शुद्धि प्राप्त होती है यही अष्टम अवस्था है। तदनन्तर वैश्यधर्म से इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है यही नवम है। तदनन्तर क्षत्रियधर्म द्वारा मनोराज्य की शुद्धि सम्पादित होती है यही दशम अवस्था है। तत्पश्चात् बुद्धिराज्य की शुद्धि द्वारा ब्राह्मणधर्म जीव को पवित्र करता है यही ग्याहरवीं अवस्था है। ॥११६-१२५॥

नूनमाश्रमधर्मस्य सम्बन्धाद्धि स्वधाभुजः ॥ ब्रह्मचर्याश्रमप्राप्तधर्मेण  
ब्राह्मणोत्तमाः ॥१२६॥

वेदान सम्प्राप्तवन्वेषा ह्यवस्था द्वादशी मता ।  
गार्हस्थ्ये च ततो विभा अध्यात्मज्ञानमूलकम् ॥१२७॥

वेदानुष्ठानमाश्रिख दशां यान्ति त्रयोदशीम् ।  
वानप्रस्थाश्रमस्याथ धर्मेण ब्राह्मणोत्तमाः ॥१२८॥

यथार्थोपरति सम्यक् प्राप्नुवन्ति स्वधाभुजः ।  
अस्या ह्यपरतेनून परवैराग्यमुद्भवेत् ॥१२९॥

अवस्था पितरो नूनमेपैवास्ते चतुर्दशी ।  
अतः परे दशे द्वे स्तः श्रूयेतां ते स्वधाभुजः ! ॥१३०॥

हे पितृगण ! आश्रमधर्म के सम्बन्ध से ब्रह्मचर्याश्रम धर्म के द्वारा ब्राह्मण को वेद की प्राप्ति होती है, यहीं बारहवीं अवस्था है ततपश्चात् गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण अध्यात्म ज्ञान मूलक वेदानुष्ठान के द्वारा तेहरवीं अवस्था को प्राप्त करता है । वानप्रस्थ आश्रम धर्म द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मण यथार्थ उपरति को प्राप्त करता है यही उपरति पर वैराग्य उत्पन्न करती है और यही चौदहवीं अवस्था है। हे पितृगण ! इसके परे दो अवस्थाएं हैं वह सुनो ॥१२६-१३०॥

ततः सन्न्यासधर्मेण यथार्थात्मरतिध्रुवम् ।  
लभ्यते साधकैरेषा दशा पञ्चदशी मता ॥१३१॥

ततो यो विषयानन्दे ब्रह्मानन्दो विवर्तितः ।  
मालिन्यमाप्तवान् पूर्व स्वस्वरूपमसौ पुनः ॥१३२॥



सम्प्राप्य पितरो नूनं सच्चिद्भावसमन्वितम् ।  
भावमद्वैतमासाद्य परानन्दपदात्मकम् ॥१३३॥

कैवल्यं लभते नित्यमवस्थेयं हि षोडशी ।  
एष एवास्ति वेदानां सारः श्रेयान स्वधाभुजः ! ॥१३४॥

एतदेवास्ति वेदान्तरहस्यञ्चैव दुर्लभम् ।  
एतदेव रहस्यञ्च सम्यग्रूपेण सत्वरम् ॥१३५॥

अपरोक्षानुभूति हि कृत्वैवासादयन्त्यलम् ।  
जीवन्मुक्तिपदं भक्ता ज्ञानिनो मे न संशयः ॥१३६॥

तदनन्तर सन्न्यासाश्रम धर्म के द्वारा यथार्थ आत्मरति प्राप्त होती है यही पंद्रहवीं अवस्था है और अन्त में जो ब्रह्मानन्द विषयानन्द में परिणत होकर मलिनता को प्राप्त हुआ था वह पुनः अपने स्व स्वरूप में पहुंचकर सत् और चित् के माप से युक्त और अद्वितीय भाव को प्राप्त करके परमानन्द पद रूपी कैवल्य को प्राप्त करता है । यही सोलहवीं अवस्था है। हे पितृगण ! यही वेद का सार है इसी को वेदान्त का दुर्लभ रहस्य कहते हैं और इस रहस्य को सम्यकरूप से परोक्षानुभव करके मेरे ज्ञानी भक्तगण शीघ्र ही जीवन्मुक्त पदवी को प्राप्त करते हैं; इसमें सन्देह नहीं ॥१३१-१३६॥



इति श्रीशम्भुगीतास्पनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
सदाशिवपितृसंवादेऽध्यात्मतत्त्वनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का  
सदाशिवपितृ संवादात्मक अध्यात्मतत्त्वनिरूपण नामक पञ्चम  
अध्याय समाप्त हुआ।



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः : छठा अध्याय

भगवद्भागवतसम्बन्ध निरूपणम्

पितर ऊचुः ॥१॥

पितृगण बोले ॥१॥

देवादिदेव ! सर्वज्ञ ! सर्वज्ञानाश्रयस्थल ।  
गुरूणां हे गुरो ! नाथ ! कृपया ते कृपाम्बुधे ! ॥२॥

वैदिकज्ञानकाण्डस्य सारं वेदान्तमद्भुतम् ।  
गुहातिगृह्यमाकर्ण्य कृतकृत्या अभूम ह ॥३॥

हे देवादिदेव ! हे सब ज्ञानो के आश्रयस्थल ! हे सर्वज्ञ ! हे गुरुओ के गुरु ! हे दयासागर ! हे नाथ ! आपकी कृपा से हम वैदिक ज्ञान के साररूप वेदान्त का अद्भुत रहस्य सुनकर कृतकृत्य हुए ॥२-३॥

किन्तु यद्भवता प्रोक्तं वेदान्तस्याधिकारिणः । ज्ञानवन्तोऽभिधीयन्ते  
जीवन्मुक्ता इति प्रभो ! ॥४॥

सम्भाव्यते कथं होतत्तत्र विद्वयो वयं विभो !!  
अल्पज्ञ ईरितो जीवः सर्वज्ञोऽस्ति भवान् यतः ॥५॥

देशकालापरिच्छिन्नस्त्रं जीवश्चैकदेशिकः ।  
समदर्शी भवानन्ताम्यहङ्कारवजितः ॥६॥

जीवोऽहङ्कारवान् स्थूलासक्तश्चासमदर्शनः ।  
जीवः स्वार्थी संदा शम्भो ! परार्थे तु परो भवान् ॥७॥

भवान् विश्वगुरुनूनं सर्वज्ञानखनिस्तथा ।  
अस्त्यज्ञः सर्वथा जीवः स्वरूपज्ञानवजितः ॥८॥

परन्तु हे प्रभो ! आपने जो वेदान्त के अधिकारी. ज्ञानी व्यक्ति को जीवन्मुक्त नाम से अभिहित किया है वह जीवन्मुक्त पदवी कैसे सम्भव है ? हे विभो ! इसको हमलोग नहीं जानते हैं क्योंकि हे शम्भो ! आप सर्वज्ञ है जीव अल्पज्ञ है, आप देशकाल से अपरिच्छिन्न हैं जीव देश काल से परिच्छिन्न है, आप समदर्शी सबके अन्तर्यामी और अहङ्कारादि से रहित हैं और जीव असमदर्शी दृश्य में आसक्त और अहङ्कारी है, आप परार्थपर हैं और जीव स्वार्थी है, आप सबके गुरु और सब ज्ञानों की खान है और जीव सर्वथा अज्ञ और स्वरूपज्ञान शून्य है ॥४-८॥

अतो जीवः कथं शैवीमुत्तमां पदवीं गतः।  
जीवन्मुक्तोऽभिधीयत ज्ञानानन्ददयार्णव ! ॥९॥



इस कारण हे ज्ञान, आनन्द और दया के सागर ! जीव कैसे उत्तम शिव पदवी को प्राप्त करके जीवन्मुक्त कहा सकता है ? ॥९॥

शरीरत्रितयोपेतो भवेज्जीवः कथं गुरो ! !  
शरीरत्रितयातीतो जीवन्मुक्तो महाजनः ॥१०॥

चतुर्भिर्दशभिकैः स्वकोषैः पञ्चभिस्तथा ।  
सार्द्धं सम्बन्धयुक्तोऽपि तत्प्रभावान्वितोऽपि च ॥११॥

जीवन्मुक्तः कथं देव ! पदं मुक्तेरवाप्नुयात् ।  
अघटयंघटनायां सा प्रकृतिस्ते पटीयसी ॥१२॥

त्रिगुणैर्मोहयन्सास्ते निजैर्जीवांस्तथाप्यहो ।  
जीवन्मुक्तो गुणातीतं पदं लन्धुमलं कथम् ॥१३॥

हे गुरो ! जीव के तीनों शरीर रहते हुए, जीवन्मुक्त महात्मा कैसे शरीरातीत हो सकते हैं । चतुर्दश भुवन और पञ्चकोश से सम्बन्ध युक्त रहने पर भी और उनका प्रभाव बना रहने पर भी जीवन्मुक्त कैसे मुक्ति पद को प्राप्त कर सकते हैं। आपकी अघटन घटना पटीयसी प्रकृति अपने तीनों गुणों से सब जीवों को मोहित करती रहती है अहो ! तो भी जीवन्मुक्त कैसे गुणातीत पदवी को प्राप्त कर सकते हैं ॥१०-१३॥

भवत्तो व्यतिरिक्तं स्यायत्किञ्चिद्विश्वगोलके ।  
तत्सर्वं वर्तते नूनं कर्माधीनं न संशयः ॥१४॥

धर्माधर्मानुसम्बन्धरहितं नैव चास्यहो ।

जीवन्मुक्तो महात्माऽतो दुर्द्धमं कर्मबन्धनम् ॥१५॥

धर्माधर्ममुसम्बन्धं छित्वा च क्षमते कथम् ।  
स्थूलादिदेहसत्त्वेऽपि गन्तुं ब्रह्मस्वरूपताम् ॥१६॥

आपके अतिरिक्त विश्व में सब कुछ कर्माधीन है और धर्माधर्म सबन्ध से रहित नहीं है अतः जीवन्मुक्त महात्मा कैसे अदमनीय कर्मबन्धन और धर्माधर्म के सम्बन्ध से रहित होकर स्थूलादि शरीर रहते हुए भी ब्रह्मीभूत होने में समर्थ होते हैं। ॥१४-१६॥

भवानपि यदा भूमावतीर्णः कदाचन ।  
कर्माद्यायत्ततामाप्तो भवत्येवाक्षिगोचरः ॥१७॥

ज्ञानिनस्तार्ह ते भक्ता जीवन्मुक्ताः कृपानिधे ।  
शक्नुयुः कथमत्येतुं कर्मप्रभृतिबन्धनम् ॥१८॥

जब आप भी कभी कभी अवतार धारण करके कर्मादि के अधीन दिखाई पड़ते हैं तो हे कृपानिधान! आपके ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्तगण कैसे, इन सब कर्मादि बन्धन से अतीत हो सकते हैं ॥१७-१८॥

एवञ्चेत्तेऽवतारेषु ज्ञानिभक्तेषु च प्रभो! ।  
जीवन्मुक्तेषु को भेदो वर्त्तते भक्तवत्सल ! ॥१९॥

यदि ऐसा हो तो हे भक्तवत्सल ! आपके अवतारों में और आपके ज्ञानी, भक्त जीवन्मुक्तों में भेद क्या है ? ॥१९॥





एवं विधैश्च नश्चितं शङ्कासैर्विलोडितम् ।  
तस्मात्सर्वे समाधाय शान्तिं तस्मिन् प्रयच्छ नः ॥२०॥

वयं येन कृतार्थत्वं सद्गुरो ! सँल्लभेमहि ।  
मनो येन मिलिन्दो नो भवेत्तव पदाम्बुजे ॥२१॥

इस प्रकार की शङ्काओं से हमारे अन्तःकरण आलोदित हो रहे हैं  
इसलिये हमारी शंकाओं का समाधान करके हमें कृतार्थ कीजिये  
जिससे हमारा मन भ्रमर की तरह आपके चरणकमलोंमें लग जाय  
॥२०-२१॥

सदाशिव उवाच ॥२२॥

श्रीसदाशिव वोले ॥२२॥

उत्पत्तिश्च विनाशश्च भूतानामागतिं गतिम् ।  
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स ज्ञेयो भगवानिति ॥२३॥

हे पितरों जो उत्पत्ति और विनाश को, जीवों की अगति और गति को  
एवं विद्या और अविद्या को जानते हो उन्हीं को भगवान जानो ॥२३॥

भगवच्छन्दवाच्यः स्यामेतैरेवगुणैरहम् ।  
ते सर्वे स्म प्रकाशन्ते गुणा भागवते ध्रुवम् ॥२४॥

अतो भागवतस्येह देहिनोऽपि हि तिष्ठतः ।  
अहो भगवता सार्द्धं कश्चिद्भेदो न विद्यते ॥२५॥

जिन गुणों से मैं भगवान् शब्दवाच्य हूँ वह सब गुण भागवत में अवश्य प्रकाशित हो जाते हैं ॥२४-२५॥

यदा हि ज्ञानिनो भक्ताः सम्माप्ता मत्स्वरूपताम् ।  
त्रिभावात्मकरूपस्य सगुणस्य रहस्यकम् ॥२६॥

निर्गुणस्यापि ज्ञात्वैव मद्युक्ता भवितुं सदा ।  
शक्नुवन्ति तदा सृष्टेरुत्पत्तिमलयौ ध्रुवम् ॥२७॥

असेतुं नाहतस्तेषां दृष्टिमार्ग कथञ्चन ।  
महात्मानो महामान्यास्ते तदा त्वात्मदर्शिनः ॥२८॥

नूनं जीवप्रवाहस्य समुत्पत्तिञ्च सर्वतः ।  
चतुर्धाभूतसङ्घस्य प्रसक्षीकुर्वते गतिम् ॥२९॥

ज्ञानिभक्तास्तदा ते च प्राप्य मत्प्रकृतेः कृपाम् । विद्याऽविद्यास्वरूपे  
द्वे तस्या दृष्ट्वा मुहुर्मुहुः ॥३०॥

स्वयमेव प्रजायन्ते प्रकृतिस्थाः स्वधाभुजः !!  
नास्ति कोऽप्यत्र सन्देहः ससं सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥३१॥

इसलिये भगवान् और भागवत में कोई भी भेद नहीं है। अतः जब मेरे ज्ञानी भक्त मेरे स्वरूप में पहुंचकर मेरे त्रिभावमय सगुण निर्गुण रूप का रहस्य जानकर सब समय मुझमे ही युक्त रहने में समर्थ होते हैं उस समय जगत के उत्पत्ति और विनाश उनकी दृष्टि से अतीत नहीं

हो सकते। आत्मदर्शी महामान्य महापुरुष तब जीवप्रवाह की उत्पत्ति और चतुर्विध भूतसङ्घ की गति को सर्वथा प्रत्यक्ष करते हैं और हे पितरो ! तब वे ज्ञानीभक्त मेरी प्रकृति की कृपा को पाकर उसके विद्या भौर अविद्या दोनों रूपों का बार बार दर्शन करके प्रकृतिस्थ हो जाते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं; मैं सत्य सत्य कहता हूँ ॥२६-३१ ॥

तस्मिन् काले च ते भक्ता आत्मज्ञानाब्धिपारगाः ।  
मत्सायुज्यं समापन्ना मद्रूपाः स्युः सुनिश्चितम् ॥३२॥

उस समय वह आत्मज्ञानी भक्त मत्सायुज्य को प्राप्त करके मेरे ही रूप बन जाते हैं ॥३२॥

यदा मे ज्ञानिनो भक्ताः संविदन्तीह मामलम् ।  
ब्रह्मणोरुभयोरेव कार्यकारणरूपयोः ॥३३॥

तदैक्यं जायते तेषां ध्रुवमेवान्तरात्मनि ।  
ब्रह्मरूपा भवन्त्येव तेऽतो नैवात्र संशयः ॥३४॥

मेरे ज्ञानीभक्त जब मुझको भलीभांति जान लेते हैं तो कार्यब्रह्म और कारण ब्रह्मा की एकता उनके अन्तःकरण में हो जाने से वह ब्रह्म रूप ही हो जाते हैं ॥३३-३४॥

सर्वेषु प्राणिपुत्रेषु येषामुत्पद्यते ननु ।  
ब्रह्मबुर्धिमहात्मानो जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥३५॥

जिनमें सब प्राणीमात्रों पर ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न हुई है वह महात्मा जीवन्मुक्त हैं ॥३५॥

अपरोक्षं ध्रुवं येषां ब्रह्मज्ञानं प्रजायते ।  
ते महापुरुषा लोके जीवन्मुक्ता न संशयः ॥३६॥

जिनको अपरोक्ष रूप से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है वह महापुरुष संसार में जीवन्मुक्त हैं ॥३६॥

देहोऽस्मि पुरुषश्चास्मि शूद्रोऽस्मि ब्राह्मणोऽस्मि च ।  
यथेत्थं दृढविश्वासस्तथैव पितृपुङ्गवाः ! ॥३७॥

नाहं देहो न पुरुषो न शूद्रो ब्राह्मणो न च ।  
निजस्वरूपे किन्त्वस्मि सच्चिदानन्दरूपकः ॥३८॥

प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी सर्वात्मको विभुः ।  
अस्म्यहं सर्वथा नूनं चिदाकाशस्वरूपकः ॥३९॥

निश्चयो दृढ एवं योऽपरोक्षज्ञानमस्ति तत् ।  
वोद्भव्यमेतत् पितरोऽपरोक्षज्ञानलक्षणम् ॥४०॥

जैसे मैं देह हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, इस प्रकारसे दृढ निश्चय होता है वैसे ही मैं देह नहीं हूँ, न पुरुष हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न शूद्र हूँ किन्तु अपने स्वरूपमें सत्य ज्ञानानन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूप, प्रकाशरूप, अन्तर्यामी, सर्वात्मा, विभु और चिदाकाशरूप हूँ ऐसा



दृढ़ निश्चय होना अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है, हे पितृगण ! इसको अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण समझो ॥३७-४०॥

"अहं ब्रह्मास्मि " इत्येवापरोक्षज्ञानयोगतः ।  
सर्वकर्माबलीबन्धनिवृत्तिर्जायते ध्रुवम् ॥४१॥

"मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान से सभी कर्म बन्धनों की निश्चय निवृत्ति हो जाती है ॥४१॥

मारब्धं सञ्चितं कल्याः ! आगामीतिप्रभेदतः ।  
मोच्यते त्रिविधं कर्म कर्मतत्त्वविशारदैः ॥४२॥

हे पितृगण ! सञ्चित, प्रारब्ध और आगामि ये तीन प्रकार के कर्म कर्मतत्त्वज्ञों ने कहे हैं ॥४२॥

अनन्तकोटिजन्मोघेऽभुक्तानां कृतकर्मणाम् ।  
नूनं संस्कारभूतं यदीजवत्कारणान्वयि ॥४३॥

अस्ति पूर्वार्जितं कर्मजातं तत्कर्म सञ्चितम् ।  
जनकं स्थूलदेहस्य देहेऽस्मिन्नेव च प्रदम् ॥४४॥

सुखदुःखादिभोगानामास्ते पूर्वार्जितश्च यत् ।  
प्रारब्धं पोच्यते कर्म तदेवाहो स्वधाभुजः ! ॥४५॥

जिनका भोग उत्पन्न नहीं हुआ है और जो अनन्त कोटि जन्मों में किये हुए कर्मों के संस्कारभूत हैं एवं बीजवत् कारणरूप जो पूर्वार्जित कर्म



है वह सञ्चितकर्म कहलाते हैं। स्थूलशरीरके उत्पादक अर्थात् कारण और इसी देह में सुखदुःख आदि भोगों को देनेवाले जो पूर्वजन्मार्जित कर्म है वह ही प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं ॥४३-४५॥

जीवदेहकृतं कर्म पापपुण्यात्मकं किल।  
आस्ते यन्नूतनं कर्म तदागामि प्रचक्ष्यते ॥४६॥

जीव के देह से किये हुए जो पापपुण्यात्मक नये कर्म है वह अगामी कर्म कहे जाते हैं ॥४६॥

ब्रह्मैवाऽस्मीसह कल्याः ! निश्चयात्मकताजुपा।  
तत्र ज्ञानामिना कर्म सञ्चितं दह्यते ध्रुवम् ॥४७॥

इन तीन प्रकार के कर्मों से ज्ञानी के सञ्चितकर्म " ब्रह्म : ही मैं हूँ" ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान की अग्नि से जल जाते हैं। ॥४७॥

संस्कारात्मकवीजौघ ग्रास्ते सञ्चितकर्मणाम् ।  
चित्ताकाशेषु सर्वेषां प्राणिनां निहितो ननु ॥४८॥

यदा ज्ञानिमहात्मानोऽपरोक्षज्ञानयोगतः।  
पञ्चकोशा अहं नैव तेभ्योऽतीतो ह्यसंशयम् ॥४९॥

आत्मा तद्रष्टरूपोऽस्मि शुद्धो बुद्धश्च शाश्वतः ।  
इत्थमेव विदन्तीह पञ्चकोशस्थितेषु वै ॥५०॥

सञ्चिताः कर्मसंस्काराश्चित्ताकाशेषु संस्थिताः।

तिष्ठन्तोऽपि हि तेष्वेव न मुक्तान् बहुमीशते ॥५१॥

सञ्चितकर्मसमूह के संस्कार रूप बीज सब प्राणियों के चित्ताकाशक जमा रहते हैं, जब ज्ञानी महापुरुष अपरोक्ष ज्ञान से यह जान जाते हैं कि मैं पञ्चकोश नहीं है, मैं पञ्चकोशो से अतीत और उनमें द्रष्टा शुद्ध बुद्ध और सनातन आत्मा हूँ तब पञ्चकोश मे स्थित चित्ताकाश में रहने वाले सञ्चित कर्म संस्कार भी पञ्चकोशमें ही रह जाते हैं और उन मुक्त आत्माओं को बाँध नहीं कर सकते ॥ ४८-५१ ॥

ज्ञानिनामिह मुक्तानां प्राणिनां पितृपुङ्गवाः !  
प्रारब्धकर्मणां नाशो भोगादेव प्रजायते ॥५२॥

ज्ञानी मुक्त पुरुषों के प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग से ही होता है ॥५२॥

यथा कुलालो दण्डेन चक्रं सङ्घर्ष्य घूर्णितम् ।  
तस्यक्त्वा कुरुते हस्तौ दण्डञ्चैव पृथक् ततः ॥५३॥

पृथग्भूतेऽपि कौलाले चालके शक्तिसञ्चये ।  
तच्छक्तिजेन वेगेन कौलालं तत्तु चक्रकम् ॥५४॥

तावधूर्णायमानं स्याद्यावद्वेगो न शाम्यति ।  
यावन्नैवान्यवस्तूनां योगो वा तत्र जायते ॥५५॥

तत्त्वज्ञानिमहात्मानस्तात्त्विकज्ञानतस्तथा ।  
प्राप्तवन्तोऽपि भो विज्ञाः ! जीवन्मुक्तदशामलम् ॥५६॥

यावस्थूलशरीरं वै भोगं प्रारब्धकर्मणाम् ।  
भुञ्जना आसते तादभोगात्तेषां क्षयो यतः ॥५७॥

जिस प्रकार कुम्हार अपने कुलालचक्र को लकड़ी से चलाकर पीछे अपने हाथ और लकड़ी को अलग कर लेता है, तत्पश्चात् कुम्हार के अपने चलाने की शक्ति को अलग करने पर भी वह कुलालचक्र पहली प्रयोग की हुई शक्ति से अपने आप ही तब तक घूमता रहता है जब तक वह शक्ति क्षय न हो जाय, या अन्य वस्तुओं का उसमें योग (स्पर्श) न हो जाय, उसी प्रकार हे विज्ञों ! तत्त्वज्ञानी महात्मा तत्त्वज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त हो जाने पर भी अपने स्थूल शरीर-उत्पन्नकारी प्रारब्ध भोग शरीर के अंतर्पर्यन्त भोगते रहते हैं क्योंकि प्रारब्ध कर्म का केवल भोग से ही क्षय होता है ॥५३-५७॥

यथा कुलालचक्रस्य कुम्भकारेण कोऽप्यहो ।  
सार्द्धं घूर्णयमानस्य सम्बन्धो नास्ति तक्षणम् ॥५८॥

निःसङ्गरूपतो भोगात्तत्त्वज्ञे भोगजास्तथा ।  
संस्काराः क्रियमाणानां जायन्ते नैव कर्मणाम् ॥५९॥

ज्ञानिनां नैव सम्बन्धः पद्मपत्रमिवाम्भसा ।  
विद्यतेऽसंशयं कल्याः ! सार्द्धमागामिकर्माभिः ॥६०॥

अतस्तान्यपि नश्यन्ति ज्ञानयोगेन सुव्रताः ।  
सर्वाण्यागामिकर्माणि नात्र कार्या विचारणा ॥६१॥



जिस प्रकार घूमते हुए कुलाल चक्र का उस समय कुलाल के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है उसी तरह निःसंग रूप से भोग होने के कारण उन कर्मों के भोग से ज्ञानी में क्रियमाण कर्मसंस्कारों की उत्पत्ति नहीं होती है, आगामि कर्मों से ज्ञानियों का कमलदल गत जल के समान सम्बन्ध ही नहीं है इस कारण वह भी ज्ञान के द्वारा नाश को प्राप्त होते जाते हैं ॥५८-६१॥

पञ्चकोशा अहं नैव तेषां द्रष्टास्मि केवलम् ।  
यदा त्वेवं महात्मानस्तत्त्वज्ञा ज्ञानयोगतः ॥६२॥

विदन्ति हि तदा पञ्चकोशरूपवपुः कृता ।  
वघ्नीयान्नूतना मुक्तानागामिकर्मसन्ततिः ॥६३॥

इस प्रकार जब तत्त्वज्ञानी महापुरुष तत्त्वज्ञान के द्वारा यह समझ जाते हैं कि मैं पञ्चकोश नहीं हूँ मैं पञ्चकोश का द्रष्टा हूँ तो पञ्चकोश रूपी शरीर का किया हुआ नवीन आगामी कर्मसमूह मुक्तात्माओं को बांध नहीं सकता ॥६२-६३॥

सञ्चितागामिकर्माणि ज्ञानिनां पितृपुङ्गवाः !  
ब्रह्माण्डप्रकृति नूनमाश्रयन्ते न संशयः ॥६४॥

हे पितृवरो! ज्ञानी के सञ्चित कर्म और आगामी कर्म निस्सन्देह ब्रह्माण्ड प्रकृति को आश्रय करने हैं ॥६४॥

मुक्तात्मानो न वध्यन्ते सञ्चितागामिकर्मभिः ।



इत्ययं निश्चयो जात उक्तविज्ञानतो ध्रुवम् ॥६५॥

अतः पूर्वकथित विज्ञान के अनुसार यह निश्चय हुआ कि मुक्त आत्माओं के आगामी और सञ्चित कर्म उनको पुनः बन्धन नहीं कर सकते ॥६५॥

कर्मणां बीजरूपोऽस्ति संस्कारो यत्र सञ्चितः ।  
कर्मतश्च फलोत्पत्तेरवश्यं तत्र सम्भवः ॥६६॥

सञ्चितागामिकर्माणि यतो मुक्तमहात्मनाम् ।  
नैव स्पृशन्ति मुक्ताँस्तान् ब्रह्माण्डप्रकृति ह्यतः ॥६७॥

आश्रयन्ते च भुज्यन्ते समष्टयात्मकतो ध्रुवम् ।  
ब्रह्माण्डे शोभने यत्र मुक्तात्माऽसावजायत ॥६८॥

ब्रह्माण्डस्य नु तस्यैव तानि कर्माणि निश्चितम् । समष्टयात्मकमारब्धे  
सम्मिलन्ति स्वधाभुजः ! ॥६९॥

जहां कर्म-बीजरूप संस्कार है वहां कर्म से फलोत्पत्ति होना अवश्य सम्भव है इस कारण मुक्त आत्मा के आगामी और सञ्चित कर्म मुक्तात्मा को स्पर्श नहीं कर सकते वह ब्रह्माण्ड प्रकृति को आश्रय करते हैं। उस ब्रह्माण्ड में समष्टिरूप से वह कर्म भोगे जाते हैं। अर्थात् जिस पवित्र ब्रह्माण्ड में वह मुक्तात्मा उत्पन्न हुआ था उसी ब्रह्माण्डके समष्टि प्रारब्ध वह कर्म सम्मिलित हो जाते हैं ॥६६-६९॥

समष्टि कर्मभिस्तैर्हि तद्ब्रह्माण्डस्य भूतिदाः ।  
समष्टिसुखदुःखानि प्राप्यन्ते प्राणिभिर्बुवम् ॥७०॥

उन कर्मों के द्वारा उस ब्रह्माण्ड के समष्टि जीवों को समष्टि सुख दुःख प्राप्त होता है ॥७०॥

सत्यत्रेताद्वापराणां कलेश्चैव समुद्भवे ।  
सहायकानि जायन्ते काले तानि भविष्यात् ॥ ७१ ॥

एवं भविष्यत् काल में सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग आदि काल के उत्पन्न होने में वह सहायक होते हैं ॥७१॥

ज्ञानिनां मम भक्तानां भोगो भवति कर्मणाम् ।  
अन्येनापि प्रकारेण यथाग्रे वो ब्रवीम्यहम् ॥७२॥

ज्ञानिनो ये भजन्तीह नितरामर्चयन्ति च ।  
ज्ञानिभिविहितः पुण्य कर्मशो याति तान्प्रति ॥७३॥

दुःखप्रदानं कुर्वन्ति निन्दन्ति ज्ञानिनश्च ये ।  
ज्ञानिसम्पादितः पाप कर्माशस्तांस्तु गच्छति ॥७४॥

मुच्यन्ते ज्ञानिनो ह्येवं निखिलः कर्मबन्धनैः ।  
निष्कामा भाग्यवन्तस्ते विचरन्ति महीतले ॥७५॥

हे पितृगण ! मेरे ज्ञानी भक्त के कर्मों का प्रकारान्तर से भोग ऐसा भी होता है, जैसा आप लोगों से मैं कहता हूँ कि ज्ञानी की जो सेवा और

पूजा करते हैं उनको ज्ञानी के किये हुए पुण्यकर्मों का अंश भोग करना पड़ता है और जो ज्ञानी की निन्दा करते हैं और उनको दुःख देते हैं उनको ज्ञानी के किये हुए पापकर्मों का अंश भोग करना पड़ता है इस प्रकार से ज्ञानी सब कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं और वे भाग्यवान् निष्काम होकर पृथिवी पर विचरते हैं ॥७२-७५॥

संसारापारपाथोधिमुत्तीर्यात्मविदो जनाः ।  
ब्रह्मानन्दमुसन्दोहमत्रैवासादयन्त्यलम् ॥७६॥

आत्मज्ञानी संसार समुद्र को तर कर यहीं ब्रह्मानन्द को प्राप्त होते हैं ॥७६॥

तरन्त्यात्मविदो भक्ता निश्चितं शोकसागरम् ।  
सर्वभूतेषु गूढोऽस्ति देव एको न संशयः ॥७७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादिशास्त्रसम्मतेः ।  
जीवन्मुक्ता महात्मानः साक्षाब्रह्मस्वरूपिणः ॥७८॥

चिज्जयन्थिसम्बन्धो योऽभूज्जीवदशोद्भवे ।  
छिन्नो मुक्तदशायां स भवेज्जीवः शिवो ह्यतः ॥७९॥

शास्त्रोंमें कहा है, कि "आत्मज्ञानी सब शोकों को तर जाता है " "एक ही आत्मदेव सब भूतो में व्यापक है" "आत्मज्ञान से हृदय की ग्रंथि खुल जाती है" इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुष साक्षात् ब्रह्मरूप ही हैं। जीवदशा में जड़ और चेतन की जो ग्रन्थि बनी थी वह अन्धि मुक्तदशा में खुल जानेसे जीव शिवरूप हो जाता है ॥ ७७-७९ ॥

ब्रह्मेशकोटिभेदेन जीवन्मुक्तो द्विधा मतः ।  
पारब्धकर्मणां तत्र जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥८०॥

वैचित्र्यमेव हेतुः स्यात्प्रभेदे द्विविधे ध्रुवम् ।  
ब्रह्मकोटि समापन्ना जीवन्मुक्ता भवन्त्यहो ॥८१॥

आत्मारामाः सदा मूका जगत्सम्बन्धवर्जिताः ।  
ईशकोटि श्रिता ये च जीवन्मुक्ताः स्वदिनः ॥८२॥

त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः ।  
सरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले ॥८३॥

विश्वमेवंविधैरेव ह्योकमात्रं स्वधाभुजः ॥  
भवन्त्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तमहात्मभिः ॥८४॥

जीवन्मुक्त महापुरुष दो श्रेणीके होते हैं। एक ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्त और दूसरे ईशकोटि के जीवन्मुक्त। मुक्त दशा में मुक्तात्मा के अवशेष रहे हुए प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता ही इन दो भेदों का कारण है। ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्त मूक और आत्माराम होते हैं। जगत के साथ उनका कोई सम्बन्ध पुनः नहीं रहता है और ईशकोटि के जीवन्मुक्त ईश्वर प्रतिनिधि रूप होकर भगवत् कार्यरूप से जगत् कल्याण में रत रहते हैं। केवलमात्र ऐसे ही जीवन्मुक्त महापुरुषों के उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है ॥८०-८४॥

सन्ति भागवता एवं भगवद्भ्रपिणो ध्रुवम् ।  
तेषां सततयक्तानां मय्येव पितृपुङ्गवाः ! ॥ ८५ ॥

चित्ते सर्वज्ञतावीजं भवत्यारोपितं खलु।  
मत्कार्यतत्परांस्तांश्च सर्वथा मत्परायणान् ॥८६॥

देशकालौ न वाधेते कथञ्चित् किल कर्हिचित् ।  
जीवन्मुक्ता महात्मान ईशकोटिं समाश्रिताः ॥८७॥

यत्किञ्चनेह संसारे कार्ये कुर्वन्ति सन्ततम् ।  
कार्यं ममैव तत्सर्वं कुर्वते पितृपुङ्गवाः ! ॥८८॥

यतोऽन्तःकरणं तेषां जवाहङ्कारवर्जितम्।  
पूर्यते समदर्शित्व-निरासक्तयादिभिस्तदा ॥८९॥

हे पितृगण ! इस प्रकार से भागवत गण भगवद्रूप ही होजाते हैं। मुझमें ही सदा युक्त रहने से सर्वज्ञता का बीज उनके अन्तःकरण में अरोपित हो जाता है। सर्वथा मत्परायण और मेरे कार्य में तत्पर होने से देश और काल उनको किसी प्रकार कभी बाधा नहीं दे सके। ईशकोटि के जीवन्मुक्त इस संसार में जो कुछ कार्य करते हैं सो मेरा ही कार्य करते हैं क्योंकि उस समय उनका अन्तःकरण समदर्शिता और निरासक्ति से पूर्ण होकर जैव अहङ्कार से रहित हो जाता है।  
॥८५-८९॥

भगवत्कार्यबुद्ध्यैव निरीक्ष्यन्ते निरन्तरम् ।  
सर्वस्मिन् समये ते च परार्थं केवलं रताः ॥९०॥



तब वह सभी अवस्थाओं में भगवान का काम समझकर केवल परार्थ कार्य में ही निरन्तर रत देख पड़ते हैं ॥९०॥

तज्ज्ञानं सर्वभूतेष्ववरोधशून्यतां गतम् ।  
अत्रैक्यं खलु संस्थाप्याऽद्वैतभावं प्रपद्यते ॥९१॥

उनका ज्ञान तब सर्वभूत में अवरोध शून्य होकर सर्वभूतों में एकता स्थापन करके अद्वैतभाव को प्राप्त करता है ॥९१॥

यदाऽहं ज्ञानिभक्तेषु प्रसीदामि तदैव ते ।  
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्तुं शक्नुवन्ति स्वधाभुजः ! ॥९२॥

यदाऽऽर्थाणि जिज्ञासुभक्ता मच्छरणागताः ।  
स्युस्तदा प्रकृतिर्मेऽसौ मातृभावं समाश्रिता ॥९३॥

तेभ्यो वै बाञ्छिताः सिद्धीर्दत्त्वाऽग्रे सारयेदिमान् ।  
सर्वतः सर्वथा कल्याः ! नैव कार्योऽत्र विस्मयः ॥९४॥

हे पितृगण ! मैं जब अपने ज्ञानी भक्तों पर प्रसन्न होता हूँ वह जीवन्मुक्ति पदवी को प्राप्त कर सकते हैं। मेरे आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त जब मेरे शरणागत होते हैं तब मेरी प्रकृति मातृभाव धारण करके उनको वाञ्छित सिद्धियां प्राप्त कराती हुई मेरी ओर सर्वथा अग्रसर करती है इसमें विस्मय नहीं करना चाहिये ॥९२-९४॥

यदा मेऽर्थार्थिनो भक्ताः प्रकृतेर्मे यथार्थतः।  
दृष्ट्वा स्वरूपमस्याः स्युरुषास्तौ सिद्धकामनाः ॥९५॥

तदा मे प्रकृतिनूनं यथा नारी पतिव्रता ।  
पत्युः केवलकल्याणानन्दवर्द्धनतत्परा ॥९६॥

तानेवार्थार्थिनो भक्तांस्तथा विश्वविभूतिदाः।  
आभिमुख्येन मे नूनं करोत्यग्रेसरान क्रमात् ॥९७॥

जब मेरे अर्थार्थी भक्त मेरी प्रकृति का यथार्थ स्वरूप देखकर उनकी उपासना में सफलकाम होते हैं तब जिस प्रकार सती स्त्री अपने पति की एकमात्र कल्याण और आनन्द प्रदायिनी ही होती है उसी प्रकार मेरी प्रकृति उन उत्तम अर्थार्थी भक्तों को क्रमशः मेरी ओर अग्रसर करती है ॥९५-९७॥

केवलं ज्ञानिनो भक्ताः स्वज्ञानोपास्तिपूर्तितः।  
लीना मत्प्रकृतौ सम्यङ् नूनमासादयन्ति माम ॥९८॥

उपास्तेरधिकारस्य त्रिविधस्यैतदेव हि ।  
रहस्यं विद्यते कल्याः ! सत्यमेतन्न संशयः ॥९९॥

केवले ज्ञानी भक्त ही अपने ज्ञान और उपासना की पूर्णता के प्रभाव से मेरी प्रकृति में सम्यक् लय होकर मुझको प्राप्त करते हैं । यही उपासना विविध अधिकार का रहस्य है । हे पितृगण ! यह सत्य है। ॥९८-९९॥



पश्यन्तो ज्ञानिनो भक्ता मा सर्वत्रैव सर्वदा ।  
दिव्याचारस्य जायन्ते सर्वथैवाधिकारिणः ॥१००॥

जीवन्मुक्तिपदस्यैतद्रहस्यं वित्त सत्तमाः ।  
पुरा यद्वर्णितं कल्याः ! लोककल्याणसम्पदे ॥१०१॥

ज्ञानी भक्त ही मुझको सदा सब जगहों में देखते हुए दिव्याचार के अधिकारी बन जाते हैं यही जीवन्मुक्ति पदवी का रहस्य है, मैंने लोककल्याण के लिये जिसका वर्णन पहले किया है ॥१००-१०१॥

जीवन्मुक्तिपदाऽऽरूढान मद्भक्तान ज्ञानिनो वरान् ।  
नालं मे प्रकृतेः सक्तान् कर्तुं किमपि वैभवम् ॥१०२॥

मेरे श्रेष्ठ जीवन्मुक्त पदवी प्राप्त ज्ञानी भक्तों को मेरी प्रकृति का कोई वैभव फंसा नहीं सकता है। ॥१०२॥

देशकालात्मकाः कर्मरूपा अपि विभूतयः ।  
सन्ति मे प्रकृतेर्मुखास्तिसस्ताभ्योऽपि मामकाः ॥१०३॥

भक्ता भवन्त्यतीता हि जीवन्मुक्ता न संशयः ।  
भूयोऽहं व्यासतो वक्ष्ये सावधाननिशम्यताम् ॥१०४॥



काल देश और कर्मरूपी जो मेरी प्रकृति की तीन प्रधान विभूतियां हैं  
उनसे भी मेरे जीवन्मुक्त भक्त अतीत हो जाते हैं इनको मैं और  
विस्तारपूर्वक कहता हूं सुनो ॥१०३-१०४॥

महाकालश्च कालश्च पिता चैव स्वधाभुजः ।।  
सगुणस्य स्वरूपस्य सन्तीमा मे विभूतयः ॥१०५॥

देशश्च जन्मभूमिश्च माता चैव बुभुत्सवः ।।  
मुख्या मत्मकृतेनूर्नीमिमाः सन्ति विभूतयः ॥१०६॥

निजान्तःकरणेष्वेव त्रिविधाऽकाशरूपतः ।  
सर्वव्यापकदेशोऽयमनुभूयत एव ह ॥१०७॥

अतोऽपि स्वशरीराणि मन्यन्ते प्राणिनां कृते ।  
योगिनः प्रकृतेर्मुख्यविभूत्यात्मकतः स्वतः ॥१०८॥

प्रकृतेः स्पन्दनं यत्स्यात्सम्बन्धाद्देशकालयोः ।  
कर्म तत् च्यते विशैर्विसर्गात्मकमेव तत् ॥१०९॥

भूतभावोद्भवकरो विसर्गो विद्यते किल ।  
त्रिविधं कथ्यते कर्म सहजादिप्रभेदतः ॥११०॥

अपि तेपामनेकांश्च भेदान कर्मविदो विदुः ।  
यदा मे ज्ञानिनो भक्ता जीवन्मुक्तिपदं ध्रुवम् ॥१११॥

प्राप्नुवन्ति तदा देश-कालकर्माणि तानहो ।  
किञ्चिन्नैवापवाधन्ते सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥११२॥

हे जिज्ञास्तु पितृगण ! महाकाल, काल और पिता ये मेरी सगुणरूप की विभूतियां हैं और देश, जन्मभूमि एवं माता यह मेरी प्रकृति की प्रधान विभूतियां हैं । निज अन्तःकरण में ही विविध आकाशरूप से सर्वव्यापक देश का अनुभव होता है इस कारण निज शरीर भी जीव के लिये मेरी प्रकृति की प्रधान विभूतिरूप से योगिगण मानते हैं। देश और काल के सम्बन्ध से मेरी प्रकृति के स्पन्दन को कर्म कहते हैं, वह भूतभावोद्भव कर विसर्गरूप है । वह कर्म सहजादि रूप से त्रिविध कहाता है । कर्मतत्त्वदर्शियों ने उन तीनों के भी अनेक भेद कहे हैं। मेरे ज्ञानी भक्त जब जीवन्मुक्त पदवी को प्राप्त कर लेते हैं तो देश, काल और कर्म उनको कुछ भी बाधा नहीं दे सकते ॥१०५-११२॥

गुणत्रयस्य सम्बन्धादेशां भेदांश्च वर्णये ।  
श्रूयन्तां सावधानैस्ते भवद्भिश्च शनैः शनैः ॥११३॥

विभ्वनिर्वचनीयौ द्वावतिसूक्ष्मौ गुणान्वयात् ।  
शक्यौ देशमहाकालौ विज्ञातुं नैव कहिर्चित ॥११४॥

किन्तु तौ भावसम्बन्धाज्ज्ञातुं शक्यौ न संशयः ।  
जीवन्मुक्ता महात्मानः शक्तितो देशकालयोः ॥११५॥

स्वयं धारणयाऽऽत्मानं ब्रह्मभावस्य शुद्धया ।  
विमोक्तुं शक्नुवन्तीह नात्रास्ते कोऽपि विस्मयः ॥११६॥

त्रिगुण के सम्बन्ध से इनका भेद वर्णन करता हूँ, सुनें। सूक्ष्माति सूक्ष्म, विभु और अनिर्वचनीय देश और महाकाल गुण के सम्बन्ध से जाने नहीं जाते परन्तु वह भाव के सम्बन्ध से जाने जाते हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष ब्रह्मभाव की धारणा द्वारा देश और काल की शक्ति से अपने आप को मुक्त कर लेते हैं इसमें विस्मय नहीं है। ॥११३-११६॥

यदा मे प्रकृतेधीराः ! त्रैगुण्योपाधिसंयुतः।  
कल्पमन्वन्तरादीनि नानारूपाणि सन्धरन् ॥११७॥

चतुर्युगमैहाकाल ऋतुभिः षडभिरेव च ।  
प्रत्यक्षत्वं गतो लोके जीववर्गेषु सन्ततम् ॥११८॥

प्रभावं तनुते स्वीयं जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ।  
अत्येति निर्मला बुद्धिस्तथाप्युक्तप्रभावतः ॥११९॥

महाकाल जब मेरी प्रकृति के त्रिगुण-उपाधि से युक्त होकर कल्प मन्वन्तर आदि अनेक रूपों को धारण करके अन्त में चार युग और छः ऋतुरूप से प्रत्यक्ष होकर जीव पर प्रभाव डालता है किन्तु तब भी जीवन्मुक्त महात्माओं की निर्मल बुद्धि उक्त प्रभावों से भी अतीत हो जाती है। ॥११७-११९॥

तथैव प्रकृतेनूनं गुणान् देशो यदा धरन् ।  
राशिनक्षत्रसूर्यादिग्रहोपग्रहमुख्यकान् ॥१२०॥

नानारूपोच्चयान् धृत्वा मातृभूरूपतस्ततः।  
पार्वत्यपर्वतप्राय्त्सरुदेशोपरादिभिः ॥१२१॥



सजलैजलजैश्चापि षडेपैरूक्तनामकैः ।  
ब्राह्मणादिचतुर्वर्णरूपभूभेदतोऽथवा ॥१२२॥

जीवानासक्तिपाशेषु निबध्नाति तथाप्यहो ।  
जीवन्मुक्तगणस्येह बुद्धिरव्यभिचारिणी ॥१२३॥

नैवापतति कुत्रापि मुदृढे तस्य बन्धने ।  
जीवन्मुक्तस्थितियस्मात्पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥१२४॥

उसी प्रकार जब देश प्रकृतिगुणोको धारण करके राशि, नक्षत्र, सूर्य, ग्रह और उपग्रह आदि अनेक रूपों को धारण करता हुआ, अन्त में मातृभूमि रूप से पार्वत्य, पर्वतप्राय, मरु, ऊषर, सजल और जलज छः रूप से अथवा ब्राह्मणादि चतुर्वर्णरूपी भूमि भेद से जीव को आसक्ति में बांधता है, वैसा होने पर भी जीवन्मुक्त महात्मा की अव्यभिचारिणी बुद्धि उसके सुदृढ बन्धन में नहीं पड़ती है क्योंकि जीवन्मुक्तों की स्थिति जल में कमलपत्रके समान होती है ॥१२०-१२४॥

पितृजे मत्यपि स्थूले गुणाधारे वपुष्यहो ।  
सर्वेषु देशकालेषु जीवन्मुक्तात्मवेदिनाम् ॥१२५॥

प्रतिमा निर्मलोक्तस्य स्थूलदेहस्य तैर्गुणैः ।  
मुद्यते पितरो नैव सत्यमेतद्रवीमि वः ॥१२६॥

और माता पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर गुणों का आधार होने पर भी जीवन्मुक्त की प्रतिभा सब देश और काल में निर्मल रहकर उक्त स्थूल शरीरके गुणों से मोहित नहीं होती है, यह मैं सत्य कहता हूँ ॥१२५-१२६॥

सन्ततं मयि युक्तानां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ।  
जायन्ते सर्वकर्माणि तदर्थं भ्रष्टवीजवत् ॥१२७॥

हे पितृगण! मुझमें सदा युक्त होने से जीवन्मुक्त महात्माओं के सब कर्म उनके लिये भ्रष्ट बीजवत होजाते हैं ॥१२७॥

आयस्कान्तगिरेः पोते गच्छत्येवान्तिकं यथा ।  
पृथग्भवन्ति लौहानि कीलकान्यखिलान्यलम् ॥१२८॥

तस्मिन्नेव भवन्त्याशु सलग्नानि धराधरे ।  
सपोतश्च क्षणे तस्मिंस्तत्रैवाब्धौ निमज्जति ॥१२९॥

तथैव मयि युक्तानां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् । श्रयन्तेऽखिलकेर्माणि  
ब्रह्माण्डाकाशमेव वै ॥१३०॥

बारिबिन्दुरिवाकाशात्पतितस्ते महार्णविः ।  
जीवन्मुक्ता महात्मानो लयं गच्छन्ति मव्यहो ॥१३१॥

जिस प्रकार चुम्बक के पर्वत के निकट होते ही पोत के शरीर की सब लोहे की कीले पोत से खुलकर उस पर्वत में जा मिलती हैं और वह पोत समुद्रमग्न हो जाता है, उसी प्रकार मुझमें युक्त जीवन्मुक्तों

के सब कर्म ब्रह्माण्डाकाश को आश्रय कर लेते हैं और जीवन्मुक्त  
आकाशपतित वारिविन्दु के समान मुझमें मिल जाते हैं ॥१२८-१३१॥

एकैकस्यं गुणस्याथ या वृत्तिद्वयरूपतः।  
आहारो मैथुनं निद्रा भयं ज्ञानं सुखैपणा ॥१३२॥

इमा षड्वृत्तयः सन्त्यास्थावराज्जीवसङ्घतः।  
देवतोन्नतसृष्टयन्तं विद्यमानाः समानतः ॥१३३॥

कर्मजालेषु तान् सर्वानावद्भान् कुर्वते च ताः।  
स्थावरान् जंगमाञ्जीवान् देवमादिकान् ध्रुवम् ॥१३४॥

परन्तु जीवन्मुक्तेषु नूनं स्वाभाविकास्तपि।  
सतीष्वपि किलैतासु त्यजन्ति स्वगुणान् हि ताः ॥१३५॥

निद्राऽहारस्वरूपिण्यस्तामासिक्त्यो हि वृत्तयः।  
स्थूलदेहाश्रयेणैषां तिष्ठेयुर्नष्टवासनाः ॥१३६॥

भयमैथुनरूपिण्यो जीवन्मुक्तौघटत्तयः।  
राजसिक्त्यो विलीयन्ते स्वीयेषु कारणेवलम् ॥१३७॥

सुखेच्छाज्ञानरूपिण्यस्तेषां सात्विकवृत्तयः।  
समं विश्वेन तादात्म्यभाजः सत्यः स्वधाभुजः ! ॥१३८॥

आभिमुख्येन मे नित्यं प्रवहन्ते न संशयः।  
एवं मे ज्ञानिनो भक्ताः शक्नुवन्ति जगद्गुरोः ॥१३९॥

जगतो रंक्षकस्यापि पदमाप्तुमसंशयम्।  
इति वो ज्ञानमाख्यातं श्रूयतां वः पुनर्ब्रूवे ॥१४०॥

जीव में जो एक एक गुण की दो दो वृत्ति रूप से आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा, यह छः वृत्तियां स्थावर आदि जीव से लेकर देवता आदि उन्नत सृष्टि में भी समान आपसे विद्यमान रहकर कर्मजाल में उनको नाबद्ध रखती है; परन्तु हे विज्ञवरो! जीवन्मुक्त में ये स्वाभाविक छः वृत्तियां रहने पर भी अपने स्वाभाविक गुणों को परित्याग कर देती हैं। आहार और निद्रारूपी तामसिक वृत्तियां केवल उनके स्थूल शरीर के आश्रय से वासनाशून्य होकर जीवित रहती हैं। जीवन्मुक्तों की भय और मैथुन रूपी राजसिक वृत्तियां अपने स्वकारण में लय हो जाती हैं और उनकी ज्ञान और सुखेच्छा रूपी सात्त्विक वृत्तियां जगत के साथ तदाकाररूप धारण करके मेरी ओर सदा प्रवाहित होती हैं। इस प्रकारसे मेरे ज्ञानी भक्त जगदरक्षक और जगद्गुरु पदवी को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकारका ज्ञान कहा गया और भी आप लोगों से कहता हूं सुनो। ॥१३२-१४०॥

यद्यपि स्वेच्छयैवाहं स्वशक्तयात्मककर्मणः । स्वानुशासनरूपाया  
धमाधर्मव्यवस्थितेः ॥१४१॥

निघ्नताञ्चोररीकृत्य जगत्कल्याणहेतवे ।  
यदा कदाचिद्विश्वस्मिन्नतीर्णो भवाम्यहो ॥१४२॥

जीवन्मुक्तपदप्राप्तान किन्तु भक्तगणानहम्।  
सर्वथा कर्मभिर्मुक्तात् विदधे पितरो ध्रुवम् ॥१४३॥



यद्यपि मैं अपनी इच्छासे ही अपनी ही शक्तिरूपी कर्म और अपने ही अनुशासनरूपी धर्माधर्म की अधीनता स्वीकार करके इस जगत में इसके कल्याण के लिये जब कभी अवतार धारण करता हूँ। परन्तु हे पितृगण ! जीवन्मुक्ति पदवी प्राप्त भक्त गण को मैं सब प्रकार के कर्म से मुक्त कर देता हूँ॥१४२-१४३॥

नानाविधाश्च जायन्तेऽवतारा मे युगे युगे ।  
समष्टिकर्मसादेते सम्पद्यन्ते न संशयः ॥१४४॥

प्राधान्यं त्रिविधानां मे शक्तीनामेव जायते ।  
ममावतारपुञ्जेषु तेऽतो मच्छत्स्यपक्षकाः ॥१४५॥

अपेक्षते तु मच्छक्तीर्जीवन्मुक्तेषु कोऽपि न ।  
सर्वमुक्ता हि जायन्ते जीवन्मुक्ता न संशयः ॥१४६॥

आत्मज्ञानं यदासाद्य ज्ञानिभक्तगणो मम ।  
लभते पितरो नूनं जीवन्मुक्तिपदं परम् ॥१४७॥

आविभूतेस्तस्य वेदे दशात्रैविध्यमीरितम् ।  
वेदान्तप्रतिपाद्यस्य सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१४८॥

स्वस्वरूपस्य सँल्लब्धावपरोक्षानुभूतितः ।  
सत्यां स्वतो विमुच्यन्ते जीवाः संसारबन्धनात् ॥१४९॥

तेषां पारब्धमावल्याभ्रमत्कौलालचक्रवत् ।

तच्चित्तस्य तदा किन्तु विक्षेपो नैव नश्यति ॥१५०॥

तव्युत्थानदशा नूनं बाहुल्येन हि जायते ।  
किन्तु ते भाग्यवन्तो मे भक्ता ज्ञानाब्धिपारगाः ॥१५१॥

यान्ति मे तीव्रत्तीनां स्वतः सन्धौ स्वरूपताम् ।  
विक्षेपबहुलेनान्तःकरणेन समन्विताः ॥१५२॥

सन्तोऽपि स्वस्वरूपस्य ह्यपरोक्षानुभूतितः । मुक्तात्मानोऽभिधीयन्ते  
श्रेणीमाद्यां गता अमी ॥१५३॥

युग युगमें मेरे अवतार अनेक प्रकार के होते हैं वह सब समष्टिका धीन होते हैं। मेरे अवतारों में मेरी त्रिविध शक्ति की ही प्रधानता रहती है इस कारण वह मेरी शक्ति सापेक्ष हैं परन्तु जीवन्मुक्तगण में से कोई भी मेरी शक्ति की अपेक्षान हीं रखता,  
हे पितृगण ! जिस आत्मज्ञान को प्राप्त करके मेरे ज्ञानी भक्तगण उत्तम जीवन्मुक्त पदवी को प्राप्त करते हैं उस आत्मज्ञान के आविर्भाव की दशा वेद में तीन श्रेणी की कही गई है। वेदान्त प्रतिपाद्य सच्चिदानन्दमय स्वरूप की उपलब्धि अपरोक्षानुभूति द्वारा करते ही जीव बन्धनरहित हो जाता है; किन्तु उस समय घूमते हुए कुलाल चक्र के समान उसके चित्त के विक्षेप उसके प्रारब्ध की प्रबलता के कारण दूर नहीं होते हैं और उसकी व्युत्थान दशा अधिकता से बनी रहती है परन्तु यह भाग्यवान् मेरा भक्त तीव्रवृत्तियों की सन्धि में अपने आप ही मेरे स्वस्वरूप में पहुंच जाया करता है । विक्षेप बहुल अन्तःकरण

से युक्त होने पर भी स्व स्वरूप की अपरोक्षानुभूति द्वारा वह मुक्तात्मा प्रथम श्रेणी का कहलाता है। ॥१४४-१५३॥

प्राकृतेन कलंकेन दृश्यासत्या च वर्जिता । जगजालविहीनयमवस्था  
जायते ध्रुवम् ॥१५४॥

यह अवस्था जगज्जालरहित प्राकृतिक कलंक रहित और दृश्य की आसक्ति से रहित होती है ॥१५४॥

मनोऽपि जायते नूनं सम्यग्भर्जितवीजवत् ।  
तस्मिन् दि ज्ञानिभक्तेऽहं मनोमोहात्मकेन वै ॥१५५॥

व्युत्थाने मेघजालेन पिडितोऽप्यन्तरान्तरा ।  
प्रकाशे श्रावणे ममे यथा सोर्यो घनावृत्तः ॥१५६॥

मन भुने हुए बीज के सदृश्य हो जाता है और उस ज्ञानी भक्त में तय मनोमोहरूपी मेघजाल से व्युत्थान दशा में ढके जाने पर भी श्रावणमास के घनावृत्त सूर्य की तरह निरन्तर बीच बीच में प्रकाशित भी होता रहता हूँ ॥१५५-१५६॥

अस्यामाघदशायां हि जीवन्मुक्ताः स्वधाभुजः।।  
परिश्रान्ता भवन्तोऽपि पदे ज्ञानमये परे ॥१५७॥

प्राप्नुवन्त्येव विश्रान्ति परमानन्दरूपिणि ।  
द्वितीयायामवस्थायां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥१५८॥

चितसचा हि ममोन्मुक्ता मनसः शान्तिशालिनी ।  
तमोज्योतिर्गणैमुक्ता राजते व्योमवद्विभुः ॥१५९॥

इस प्रथम अवस्था में जीवन्मुक्त परिश्रान्त रहने पर भी ज्ञानमय परमानन्द रूपी परमपद में ही विश्रान्ति लाभ किया करते हैं। जीवमुक्त की दूसरी अवस्था मन से उन्मुक्त शान्तिशालिनी मेरी चित्सत्ता समस्त तम और समस्त ज्योतिसे मुक्त होकर विभुव्यापक आकाश की तरह विराजमान रहती है ॥१५७-१५९॥

अत्र गाढसुषुप्तेभै पितरोऽनुभवो यथा ।  
पाषाणपिव काटिन्यमधवा व्योममण्डले ॥१६०॥

विभुः शून्या यथा शक्तिबीहान वै विषयान्प्रति ।  
स्वभावादुन्मुखत्वस्य परित्यागेन सर्वथा ॥१६१॥

सच्चिदानन्दभावानां स्वस्वरूपेऽनुभूयते ।  
अद्वैतसत्ता नितरां नात्र कार्या विचारणा ॥१६२॥

इस दशामें गाढ सुषुप्ति दशा के अनुभव की तरह अथवा प्रस्तर में कठिनता की तरह अथवा आकाश में विभु शून्य शक्ति की तरह बाह्य विषय के प्रति उन्मुखता को स्वभाव से परित्याग करके स्वस्वरूप में सच्चिदानन्द भाव की अद्वैतसत्ता सर्वथा अनुभूत होती है ॥१६०-१६२॥

अस्यां द्वितीयावस्थायां जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ।  
अत्यंत जायते स्वल्पा दशा व्युत्थाननामिका ॥१६३॥

आदावन्ते च प्रत्येकवीचेश्चित्तमहोदधेः ।  
लभन्ते ज्ञानिभक्ता ये मत्सायुज्यमसंशयम् ॥१६४॥

जीवन्मुक्त की इस द्वितीय दशा व्युत्थान दशा बहुत कम होती है और साथ ही साथ अन्तःकरण रूपी समुद्र की वृत्तिरूपी प्रत्येक वीचि के आदि अन्तमें ही मेरे ज्ञानीभक्त मत्सायुज्यको प्राप्त करते रहते हैं ॥१६३-१६४॥

दशां तृतीयां प्राप्तेषु जीवन्मुक्तेषु भूतिदाः।।  
नीरक्षीरसुसम्मेलसन्निमा चित्सवानिका ॥१६५॥

सत्ता मे त्रिविधाऽखण्डब्रह्माकारत्वमाश्रिता ।  
तत्राभिन्नेव संयुक्ता मया सह विराजते ॥१६६॥

सत्ता तात्कालिकी नामरूपातीततया खलु ।  
ब्रह्मात्मेसादिसंज्ञाभ्यो ह्यतीता केवलेन च ॥१६७॥

नित्या रूपेण नित्यं सा स्वतः पूर्णाऽवतिष्ठते ।  
अवस्थेयं प्रकृत्याश्च स्वतीता देशकालतः ॥१६८॥

स्वस्वरूपे तुरीयादिदशाभ्योऽपि वहिर्गता ।  
परभावमयी नित्या जायते परमाद्भुता ॥१६९॥

निखिलेभ्योऽपि मार्गेभ्यः पान्थेभ्यो दूरवर्तिनी ।



विदेहाख्याऽपि यस्मात्सा ततो मत्सन्निभाऽस्यसौ ॥१७०॥

इयं ह्युपनिषद्विद्य सर्वथा पितरो हिता ।  
वेद्या भवद्विरप्येषा श्रुतिः साध्वी सनातनी ॥१७१॥

हे पितृगण ! जीवन्मुक्त भक्त तीसरी दशा को प्राप्त करने पर उसमें नीर क्षीर के सम्मेलन की तरह चित्तप्रधान मेरी त्रिविधसत्ता अखण्ड ब्रह्माकार भाव को प्राप्त करके मेरे साथ अभेद से बनी रहती है और उस समय की सत्ता नाम रूप से अतीत होने के कारण ब्रह्मा आत्मा इत्यादि संज्ञाओं से भी अतीत होकर केवल रूप से नित्य और स्वतः पूर्ण होकर अवस्थान करती है। यह अवस्था देश काल और प्रकृतिसे अतीत हो स्वस्वरूप में तुरीयातीत आदि अवस्था ले भी अतीत होकर अद्भुत परम भावमय हो जाती है। यह तृतीय अवस्था सभी पथ और सभी पथिकों से दूरवर्ती होने से और विदेह कहलाने से मेरे तुल्य है। हे पितृगण ! इसी को हितकरी उपनिषद्विद्या और सनातनी श्रुति जानो ॥१६५-१७१॥

इति श्रीशम्भुगीतामुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सदाशिवपितृ  
संवादे भगवद्भागवतसम्बन्ध निरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविधासम्बन्धी योगशास्त्र का सदाशिवपितृ संवादात्मक भगवद्भागवत सम्बन्ध निरूपण नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।



॥ श्रीशम्भवे नमः ॥

## ॥ श्री शम्भु गीता ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः सांतवा अध्याय

शिवलिङ्गः निरूपणम् ।

पितर ऊचुः ॥ १ ॥

पितृगण बोले ॥१॥

देवादिदेव ! सर्वात्मन् ! सर्वाधार ! जगद्गुरो ! ।  
वयं यद्यपि सर्वेश ! नेशाः सम्यक्तया विभो ! ॥२॥

जीवन्मुक्तिरहस्यं वै विधातुं हृदयङ्गमम् ।  
अन्वभूम तथाप्येतत्कृपातो भवतो ध्रुवम् ॥३॥

शाश्वतस्यास्ति धर्मस्य परशक्तयात्मकस्य ते ।  
सर्वजीवहितं नित्यं कुर्वाणस्यान्तिम फलम् ॥४॥

जीवन्मुक्तिर्न सन्देहो विद्यते हि सदा प्रभो ।  
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्य त्वयातो दयानिधे ! ॥५॥

जनो भागवतो नूनं भगवानेव जायते ।  
तवाऽपारकृपापुञ्जज्ञातमस्माभिरित्यपि ॥६॥

सार्द्धं भेदो भवद्भक्तैर्जीवन्मुक्तिपदङ्गतैः ।  
भवतः कोऽपि कुत्रापि कथञ्चिन्नव वर्तते ॥७॥

निजभक्तैर्भवान् यत्र लिङ्गाकारेऽच्यते प्रभो ! ।  
यथार्थं तत्स्वरूपं नो दर्शयित्वा कृतार्थय ॥८॥

हे देवादिदेव ! हे सर्वेश्वर ! हे सर्वाधार ! हे सर्वात्मन ! हे जगद्गुरो ! हे विभो ! यद्यपि हम सम्यक रूप से जीवन्मुक्तरहस्य को हृदयङ्गम नहीं कर सके परन्तु हे प्रभो ! इतना अवश्य आपकी परम कृपा से हमारे अनुभव में आ गया है कि शाश्वत, सर्वजीव हितकर, आपकी परम शक्ति रूपी धर्म का अन्तिम फल निरन्तर जीवन मुक्ति ही है और जीवन्मुक्ति पदवी को प्राप्त करके आपकी कृपा से भागवत जन भगवान् ही हो जाते हैं और यह भी आपकी अपार कृपा से समझ में आ गया कि जीवन्मुक्ति पदवी प्राप्त आपके भक्तों में और आपमें कहीं किसी प्रकार कोई भी भेद नहीं है। हे प्रभो ! अपने भक्तों के द्वारा जिस लिङ्गाकार में आप पूजे जाते हैं उसका यथार्थ स्वरूप क्या है ? सो हमें दिखाकर कृतकृत्य कीजिये ॥२-८॥

सदाशिव उवाच ॥९॥

श्रीसदाशिव बोले ॥९॥



हे वर्णाश्रमधर्माणां रक्षकाः ! पितरोऽखिलाः ।  
वासनाभिः शुभाभिर्वः प्रसन्नोऽहमतोऽधुना ॥१०॥

देवदानवमर्त्यानां युष्माकञ्च सुदुर्लभम् ।  
दिव्यं ज्ञानमयं चक्षुरदः कालकृते ददे ॥११॥  
चिन्मयस्यास्य लिङ्गस्य स्वरूप मे यथायथम् ।  
यूयं पश्यत येनाद्य जायतां का कृतार्थता ॥१२॥

हे वर्णाश्रमधर्म के रक्षक पितृगण ! आपकी शुभ कामना से मैं प्रसन्न हुआ हूँ इस कारण देव दानव पितृ मनुष्य आदि को दुर्लभ ज्ञान नेत्र इस समय के लिये आपको प्रदान करता हूँ । आप मेरे चिन्मय लिंग का यथार्थ स्वरूप दर्शन करो जिससे आपलोगों की कृतकृत्यता हो ॥१०-१२॥

पितर ऊचुः ॥१३॥

पितृगण बोले ॥ १३ ॥

अहो विस्मृतात्मान आश्वद्य जाताः  
परात्मन् ! वयं नैव विद्योऽत्र हेतुम् ।  
भवाँञ्चिन्मयस्येह बीजस्यं दातृ  
धरन् लिङ्गरूपं विराड्विश्वयोनीं ॥१४॥

समालोक्यते सम्प्रवेशं प्रकुर्वन्  
पुनर्लिङ्गपीठद्वयं दृश्यते च ।  
धरन्वेकयुग्मस्वरूपं मनोज्ञं  
समाच्छादय विश्वमेतत्समस्तम् ॥१५॥

समालोक्यतेऽस्माभिरित्यत्र भूयो  
भवञ्चिन्मयाऽद्वैतलिङ्गादतीतम् ।  
अहो नोऽपरं वस्तु कुत्रापि किञ्चित्  
कथञ्चिन्न चक्षुःपथं नूनमति ॥१६॥

हे परमात्मन् ! अहो ! अब हम अपने को भूल गये। हम लोग इसका कारण नहीं समझ रहे हैं। अब हम देखते हैं कि आप चिन्मय बीज दाता लिङ्गरूप होकर विश्वयोनि में प्रवेश करते हो। हम पुनः देखते हैं कि वह लिङ्ग और पीठ दोनों एक युगलरूप को धारण करके सारे विश्व को छा रहा है। हम पुनः यहाँ देखते हैं कि अहो ! आपके चिन्मय अद्वितीय लिङ्ग के अतीत और कोई दूसरी वस्तु किसी प्रकार कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देती ॥१४-१६॥

अहो सर्वसाक्षिन् ! विभो !  
विश्वयोऽन्या प्रकृत्या पुनर्विश्वसृष्टेरिहादौ ।  
त्यान्ते भवलिङ्गसंल्लीनयैव परो  
द्योत्यते चिन्मयोऽद्वैतभावः ॥१७॥

हे सर्वसाक्षिन् ! विभो ! सम्पूर्ण सृष्टि के आदि और अन्त में विश्वयोनि प्रकृति पुनः आपके लिंग में ही लय होकर अद्वैत चिन्मयभाव की प्रकाशक बनती है ॥१७॥

महादेव ! पश्याम आद्यन्तशून्ये पृथक् तेऽत्र लिङ्गे पृथग् यत्र तत्र ।

अनन्तेषु केन्द्रेषु पार्थक्यतो हि जगत्सृष्टि-रक्षा-लयान् कुर्वतोऽलम्  
॥१८॥

अनेकान् विधींश्चैव विष्णुन महेशान निरीक्षामहे विश्वगोलव्रजञ्च ।  
पुनर्भूषितं विश्वमूर्तेऽत्र लिङ्गे अनेकैरहो भग्नहोपग्रहैश्च ॥१९॥

हे महादेव ! हम देखते हैं कि आपके उस आदि अन्त रहित लिङ्ग में  
अलग अलग ब्रह्मा विष्णु महेश अनन्त स्थानों में जहां तहां अलग  
अलग भलीभांति सृष्टि स्थिति और लय का कार्य करते दिखाई पड़ते  
हैं। हे विराटमूर्ते ! उस लिङ्ग पर अनेक तारा नक्षत्र ग्रह उपग्रह आदि  
से भूषित अनन्त ब्रह्माण्डसमूह आसमान दिखाई पड़ते हैं ॥१८-१९॥

अहो ! सर्वसाक्षिन ! कियन्त्यत्र लिङ्गे  
समं विश्वगोलानि जायन्त आये ।  
कियन्त्यासते च प्रलीयन्त आशु  
निमग्नान्यमुष्मिन् कियन्ति प्रभो ! ते ॥२०॥

हे सर्वसाक्षिन् प्रभो! अहो ! आपके उस लिङ्ग में कितने ही ब्रह्माण्ड  
एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, कितने ही ब्रह्माण्ड स्थित दिखाई पड़ते  
हैं और कितने ही ब्रह्माण्ड उसमें डूब कर शीघ्र लय होते दिखाई  
पड़ते हैं ॥२०॥

निरीक्षामहेऽनन्त ! भूयो वयं यः  
दनेके हि जिज्ञासवो देवसङ्घाः ।  
महर्षितजास्तस्य लिङ्गस्य चादि ।

प्रत्ताः समन्वेष्टुमन्तं परन्तु ॥२१॥

न चादि न चान्तं समासाद्य तस्य  
त्वयं वर्तते नूनमायन्तशून्यः।  
विराविश्वयोनौ प्रविष्टो हि लिङ्गः  
स्वसिद्धान्तमित्येव कुर्वन्ति मुग्धाः ॥२२॥

हे अनन्त ! हम लोग देखते हैं कि अनेक जिज्ञासु देवतागण और महर्षिगण उस लिंग का आदि और अन्त अन्वेषण करने में प्रवृत्त होते हैं परन्तु वे मूढ़ अन्तमें उसस विराट्योनि में प्रविष्ट लिंग का आदि और अन्त न पाकर उसका आदि और अन्त नहीं है ऐसे सिद्धान्त पर उपनीत होते हैं ॥ २१-२२ ॥

प्रभो ! शब्दजातादतीताखिलात्मन् !  
निरीक्षामहे ते पुनस्तत्र लिङ्गे।  
विराजत्स्वनेकेषु लोकेषु सिद्धाः  
महर्षिबजास्त्वाञ्च शब्दैः प्रणोतुम् ॥२३॥

यतन्ते सदा वैदिकैलौकिकैश्च परञ्चैव वाचस्तथा शब्दपुनात् ।  
अतीतो भवान् वर्ततेऽतः स्वयं ते हवाचः क्षणात्स्युः मुमुकाश्च  
सन्नाः ॥२४॥

हे शब्द समूह से अतीत ! सर्वात्मन् ! प्रभो ! हम देखते हैं कि उस लिङ्ग में विराजमान अनेक लोकों में सिद्ध महर्षिगण वेद और शास्त्रों के शब्दों के द्वारा आपकी स्तुति करने का यत्न करते हैं, परन्तु आप

वाक् और शब्द से प्रतीत होने के कारण थोड़े ही समय में वह निर्वाक् होकर स्तब्ध और मूकवत् हो जाते हैं। ॥२३-२४॥

विभो ! ते महेशान ! लिङ्गं विराज  
निमग्ना वयं विस्मयाब्धौ निरीक्ष्य ।  
अहो दृश्यते ते विराडेऽपि लिङ्गो  
दशायां हि सृष्टेर्विभुव्योममध्ये ॥२५॥

प्रभो ! ओतप्रोतो ह्यनाधन्तभावं  
तवाऽऽदय बुद्धिं विधत्ते विमूढाम् ।  
सदाऽस्माकमेवं मनो मूर्च्छितञ्चन्वतो  
नो न वाचः स्फुटं निस्सरन्ति ॥२६॥

हे महेश्वर ! हम आपके विराट् लिंग को देखकर विस्मयसमुद्र में डूबते हुए चकित होते हैं और हे प्रभो ! देखते हैं कि सृष्टि दशा में वह लिंग विभु आकाश में ओत प्रोत हो आपका अनादित्व और अनन्तत्व दिखाकर हमारी बुद्धि को थकित करता है और मन को मूर्च्छित करता है इसलिये हमारी स्पष्ट बातें नहीं निकलती ॥२५-२६॥

तथेक्षामहे तस्य सृष्टेरतीत  
दशायां सदा देशतः कालतश्च ।  
अवस्थाऽपरिच्छिन्नभावं गताऽलं  
प्रभोऽद्वैतभावं यदा द्योतयेन्न ॥२७॥

अवस्थां तदेमामवेक्ष्येह नोऽलं  
लयं याति शीघ्रं मनः सेन्द्रियं हि ।

तथाऽस्माकमुत्सृज्य बुद्धिः स्वयञ्च  
दशां त्रैपुटर्ती सत्त्वरं सँल्लिनाति ॥२८॥

पुनः वैसे ही जब देखते हैं कि सृष्टिसे अतीत अवस्था में उसकी देश काल से अपरिच्छिन्न अवस्था अद्वैतभाव को प्रकट करती है तो स्वतः ही हमारे मन इन्द्रियों के साथ और हमारी बुद्धि त्रिपुटी दशाको छोड़कर शीघ्र लय हो जाती है ॥२७-२८॥

अहो ! कारणानां प्रभो ! कारणात्मन् !  
विभो याति लिङ्गे यदा चिन्मये ते ।  
लयं विश्वगोलबजो दीप्यमान  
स्तदालोक्यते कौतुकं तत्र चित्रम् ॥२९॥

विभु व्योम भूतान्तरं सर्वमेव  
सलीलं स्वलीनं विधाय स्वयञ्च ।  
विलीयाम्बुधौ देशकालस्वरूपे  
सदेशं सकालं सदेत्थं निमग्नम् ॥३०॥

भवत्यस्य लिङ्गस्य कस्मिन् प्रदेशे  
यथा तस्य सत्तानुभानः कथंचिन ।  
न सन्तिष्ठते कापि नूनं कुनश्चित परात्मन !  
प्रभो ! नाथ : शम्भो ! दयालोः ॥३१॥

हे सर्व कारणकारण ! जब उस विभु चिन्मय लिंग मे भासमान ब्रह्माण्डसमूह लय को प्राप्त होते हैं तो हम देखते हैं कि विभु आकाश अन्यान्य सब भूतसंघों को अपने में अनायास लय करके स्वयं

देशकालरूप समुद्र में लय होकर उनके साथ उस लिंग के कौन से स्थान में इस प्रकार डूब जाता है कि हे परमात्मन् ! हे दयालो नाथ ! हे प्रभो शम्भो ! किसी प्रकार कहीं से उसकी सत्ता का कुछ अनुभव ही नहीं रहता है ॥२९-३१॥

विभो ! विश्वगोलप्रकाण्टा अनन्नता  
अहो चिन्मयं तत्र लिने विराजि।  
अनेकैः सहवाग्विलाधाररूप !  
पितृवातंदवत्रजप्योवर्हि ॥३२॥

अनन्तैर्मनुष्यासुरेभूतसङ्घं श्रतुर्धा  
विभक्तः प्रतीयन्न इत्यम ।  
यथा चित्रिता मूर्तयः स्तम्भमध्ये  
विचित्रा विचित्रेऽठमभिनिर्मितेऽलम ॥३३॥

प्रभो ! सन्ति ता मूर्तयः प्रस्तरेषु  
सदाऽऽलेव्यभावं गताः केवलं हि ।  
न चान्यत् परं वर्तते तत्र किञ्चिदहो  
वस्तुतो ज्ञानसिन्धो ! दयालो ! ॥३४॥

हे सर्वाधार ! उस चिन्मय विराट् लिङ्ग पर अनन्त ब्रह्माण्डसमूह, अनेक देव, ऋषि, पितृ, असुर, मानव और चतुर्विध भूतसंघ के साथ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसा कि किसी पत्थर के खम्बे पर विचित्र मूर्तियां खुदी हुई हो । हे ज्ञान सिन्धो ! हे दयालो ! वह मूर्तियां भी प्रस्तर खोदित हैं और कुछ नहीं है ॥३२-३४॥

अनन्ताऽमिता विश्वगोलव्रजा हि  
 विराजन्त एवं विधास्तत्र लिंगे।  
 परं सोऽपि लिङ्गस्तु निर्लिप्त एव  
 प्रतीयेत तैर्नात्र सन्देहलेशः ॥३५॥

वास्तवमें वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड समूह उस लिङ्ग में हैं परन्तु वह लिङ्ग उन सबसे निर्लिप्त ही प्रतीत होता है, इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है ॥३५॥

न चादिर्न चान्तोऽस्ति लिङ्गस्य  
 तस्य समस्तेश ! सर्वस्वरूप ! प्रभो ! भोः !  
 भवञ्चिन्मयो वर्चते लिङ्ग एषः।  
 सदाऽन्तवहिः पूर्ण एवं भवन्वै ॥३६॥

अहो देशकालाऽपरिच्छिन्न आरा  
 दनाद्यन्तरूपेण पूर्णः परात्मन् !।  
 निरीक्ष्येत नूनं सदा सर्वतो हि  
 न चास्तेऽत्र सन्देहलेशः कथञ्चित् ॥३७॥

उस लिङ्ग का न आदि है और न अन्त है। हे सर्वेश्वर समय विभो परमात्मन् ! आपका चिन्मय लिङ्ग बहिः पूर्ण अन्तः पूर्ण और देश काल से अपरिच्छिन्न होकर अनादि और अनन्त रूप से सर्व पूर्ण दिखाई पड़ता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह लेश नहीं है ॥ ३६-३७ ॥

प्रदर्श प्रदर्श सदा लिङ्गमेनं  
 विराणमूर्तिभृत् ! ज्ञाननेत्रस्य नोऽलम ।





क्षमत्वं यदा दूरदृष्टविनश्येत्  
तदैकापरूपं प्रदृश्येत रूपम् ॥३८॥

हे विराट् मूर्ते ! आपके विराट् लिंग को देखते देखते हमारे ज्ञान नेत्र की दूरदर्शन शक्ति जब थकित होकर नष्ट हो जाती है तब हमें आपका और एक अपरूप रूप दिखाई देने लगता है ॥३८॥

यदा ते दयासागरैतद्विचित्रं मनोबुद्धिवाग्वैभवातीतलिङ्गम् ।  
समालोक्य किंकार्यमूढाः स्वचित्तैः । किमप्याश्रयामस्तदेक्षामहेऽन्यत्  
॥३९॥

हे करुणावरुणालय ! जब आपके इस चमत्कार वाङ्मन और बुद्धिसे अग्राहा लिङ्ग को देखकर हम अपने अन्तःकरणों के द्वारा किंकर्तव्यविमूढ होकर आपके शरणागत होते हैं तो कुछ हम और ही देखने लगते हैं ॥३९॥

लिनातीह शब्देऽखिला स्थूलस्राष्टिः ।  
स्वराः पङ्जनामादयः सप्त चैवम् ।  
सदौङ्कारशब्देऽद्वितीये लिनन्ति  
अविच्छिन्न आस्ते यथा तैलधारा ॥४०॥

यथा दीर्घघण्टानिनादोऽस्ति यस्तु  
सदैकेन भावेन युक्तस्तथैव ।  
समुत्पादकोऽस्त्येकतत्त्वस्य सोऽयम  
भवानासने प्राणवे तत्र माति ॥४१॥

हम देखते हैं कि सब स्थूल, सूक्ष्म शब्द में लय होती है, षड्ज आदि सप्तस्वर अद्वितीय प्रणव में लय होते हैं जो तैलधारा की भांति अवच्छिन्न है और दीर्घ घंटे के शब्द की भांति एक भावयुक्त होकर एकतत्व उत्पादक है, आप उसी प्रणव आसन पर बैठे हैं। ॥४०-४१॥

अनन्तात्मकस्ते जया दिक्समूहः  
त्रिकालात्मकं ते विशालं त्रिनेत्रम् ।  
अनन्तो विभुवर्तते ते दयालो !  
सुयज्ञोपवीतं पवित्रं मनोज्ञम् ॥४२॥

हे दयालो! अनन्त रूपधारी दशो दिशाएँ आपकी जटा हैं। त्रिकालरूपी आपके तीन विशाल नेत्र हैं, विभुरूपधारी अनन्तः आपका पवित्र मनोहर यज्ञोपवीत है ॥४२॥

लयस्थानभूतोऽपि विश्वस्य देव !  
भवान् भूपिताङ्गो विभूत्या विभाति ।  
चतुर्हस्तमध्येऽस्त्यहो खप्परस्ते  
त्रिशूलञ्च शृङ्गं डमर्वाख्यवाद्यम् ॥४३॥

परासिद्धिमोक्षस्त्रितापञ्च नूनम्  
प्रभो वर्तते खपरश्च त्रिशूलम् ।  
निवृत्त्यात्मको धर्म एवास्ति शृङ्गं  
डमर्वाख्यवायं चतुर्धाऽर्थ एव ॥४४॥

सदैकाऽद्वितीयोऽपि नैजी स्वशक्ति  
प्रकृत्यात्मिकां तां स्वतो निर्गमय ।



स्वशक्तया तया श्यामया शोभिताको  
भवान् राजतेऽलं धरन् प्रेमतस्ताम् ॥४५॥

हे देव ! आप संसार के लयस्थान होकर विभूतिभूषिताङ्ग हैं, आपके चारों हाथों में त्रिशुल खप्पर सिंगा और डमरु, त्रिताप, परासिद्धि रूपी मोक्ष, निवृत्तिधर्म और चतर्विध अर्थरूप से शोभायमान हैं, आप एक अद्वितीय होने पर भी अपने ही में से अपनी प्रकृति को बाहर करके अपने काम अङ्ग पर अति प्रेम से धारण करतेहुए शोभायमान हो ॥४३-४५॥

तया श्यामया भूयते पूर्णशक्त्या  
सती तद्विधैवाऽस्यसौ षोडशी च ।  
करेणात्तपाशेन जीवाय बन्धं  
सविद्याकुशेन प्रदत्ते च मुक्तिम् ॥४०॥

अविद्यास्वरूपा सपाशेयमेव  
तथा साकुंशा सैव विद्यास्वरूपा ।  
सती पाति सृष्टेरलं वैभवं ते  
वयं नाथ ! विद्यापते ! त्वां नमामः ॥४७॥

वह श्यामा पूर्णशक्ति शालिनी होकर षोडशी है और अपने हाथों में पाश और अंकुश धारण करके जीवों को मायाजाल में फांसती भी है और ज्ञान रूपी अंकुश द्वारा मुक्त भी करती है, पाशविधायिनी होकर वही अविद्यारूपी और अंकुश विधायिनी होकर वही विद्यारूप होती



हुई आपके सृष्टि-वैभव की रक्षा करती है, हे विद्यापते स्वामिन् !  
आपको नमस्कार है ॥४६-४७॥

त्रयाणां गुणानां गुणाधार ! बीजं  
तथेशो गुणग्रामिणां वर्तसे त्वम् ।  
गुणेभ्योऽप्यतीतस्य तेऽन्के गुणात्मप्रकृत्या  
स्थितं सन्नमामो भवन्तम् ॥४८॥

हे गुणाधार ! आप त्रिगुण के बीजस्वरूप और गुणियों के ईश्वर हो  
और आप गुणातीत होनेपर भी गुणमयी प्रकृति आपके आश्रय से ही  
आपके अंक पर स्थिता है, आपको नमस्कार है ॥४८॥

प्रभो ! सिद्धरूपस्तथा सिद्धिबीजं  
अहो ! सिद्धराजोऽपि सिद्धलयोऽसि ।  
ददभाग्यवद्भयः परासिद्धिमतानितो  
मोचयेस्ते नमः सिद्धिनाथ ! ॥४९॥

हे सिद्धिनाथ ! आप सिद्ध स्वरूप, सिद्धिबीज और सिद्धगण के  
अधीश्वर होनेपर भी आप ही सिद्धि के लय स्थान हो और हे प्रभो !  
आप ही परा सिद्धि देकर परमभाग्यशाली जीवको मुक्ति पद प्रदान  
करते हो, आपको नमस्कार है ॥४९॥

स्त्रतेजोमयस्तेजआधाररूपोऽपि  
तेजस्मुवीजञ्च तेजस्विनाथः ।  
तिजः कर्षसि प्राणिनस्तेजसा स्वाभिमुख्येन

तेजोमय ! त्वां नमामः ॥५०॥

हे तेजोभय ! आप 'तेजाधार तेजबीज तेजस्वरूप और तेजस्विगण के ईश्वर होनेपर भी निरन्तर अपने तेज द्वारा तेजस्वी जीवों को अपनी ओर आकर्षण करते रहते हो, आपको नमस्कार है ॥५०॥

असि ज्ञान्यधीशोऽपि बुद्धेरतीत  
स्त्वधिष्ठाय बुद्धिं सतः पाणिनस्त्वम् ।  
नयस्येव शश्वद्धिया मोक्षभूमि वयं धीश !  
नम्रा नमामो भवन्तम् ॥५१॥

हे धीश ! ज्ञानिगण के ईश्वर होने पर भी आप बुद्धि से अतीत हो और आप ही बुद्धि में अधिष्ठित होकर बुद्धि द्वारा सदा जीवगण को मुक्ति भूमि में पहुंचा दिया करते हो, आपको नमस्कार है ॥५१॥

विभो ! सृष्टिरक्षाविनाशकहतो!  
परेभ्यः पर! त्वं प्रभो ! वर्तसेऽलम्।  
महीयोविराहपक्षस्य बीजं वयं  
सर्वशक्तयात्मक ! त्वां नमामः ॥५२॥

हे सर्वशक्तिमय ! सृष्टि स्थिति और प्रलय के कारण के ईश्वर ! हे परमात्मन् ! हे प्रभो ! आप ही महा विराट रूप तरु के बीज हो, आपको नमस्कार है ॥५२॥

तवास्याङ्कुरेणैव मूलप्रकृत्या



तथा वर्त्यते विष्णुवेधोमहेशैः।  
त्रिभिः स्कन्धरूपैः सुरादिभिस्तै  
रनेकैर्हि शाखाप्रशाखास्वरूपैः ॥५३॥

अहो तस्य वृक्षस्य संसार एव  
फलं विद्यते नात्र सन्देहलेशः।  
विभो ! विश्वनाथ ! प्रणम्याशुतोष !  
वयं सादरं साअलि त्वां नमामः ॥५४॥

हे आशुतोष ! हे विश्वनाथ! आपकी मूल प्रकृति अंकुर है, ब्रह्मा विष्णु  
महेश उसके तीन स्कन्ध हैं, ऋषिगण और देवतागण आदि उसकी  
शाखा प्रशाखा हैं, संसार उसका फल है, आपको सादर हाथ  
जोड़कर नमस्कार है ॥५३-५४॥

अपि त्वं महीयस्तरोस्तस्य बीजं  
तदाधार आस्सेऽखिलाधाररूपः।  
निराधाररूपोऽपि धर्मात्मना तु  
प्रभो ! धर्म मूर्ते! भवन्तं नमामः ॥५५॥

हे धर्ममूर्ते ! आप उस महान् वृक्ष के वीज होने पर भी उसके  
आधाररूप हो और स्वयं निराधार होकर भी आप ही धर्मरूप से  
सबका आधार हो, आपको नमस्कार है ॥५५॥

विहारिन् ! विभो ! भक्तचेतोनिकेते  
शरण्यं किलैकान्ततस्त्वां व्रजामः ।  
यथा नो भवेदत्र कल्याणमाशु



तदेवाधुना देव ! शम्भो ! विधेहि ॥५६॥

हे भक्तमनोमन्दिरविहारी ! अब हम आपके एकान्त शरणागत होते हैं, हे देव शम्भो ! जिससे हमारा शीघ्र कल्याण हो ऐसा करिये ॥५६॥

सदाशिव उवाच ॥५७॥

श्रीसदाशिव बोले ॥५७॥

भवतां सम्प्रसन्नोऽस्मि स्तवेरीभिः स्वधाभुजः ।  
कल्याणं त्रिविधं भूयान्द्रवद्भयो निश्चितं सदा ॥५८॥

प्राप्य त्रिविधकल्याणमेवं मुक्तिपदेऽनिशम् ।  
अग्रेसरत निर्वाधं सलीलं विश्वभूतिदाः ! ॥५९॥

हे संसारसुखदायी पितृगण ! मैं आपकी इन स्तुतियों से प्रसन्न हूँ, आप लोगों का सदा विविध कल्याण हो और विविध कल्याण प्राप्त करके आप मुक्तिपद में अनायास बेरोक अग्रसर हो ॥५८-५९॥

जैवैशसहजारख्यानं द्रष्टा सन् कर्मणामहम् ।  
गया स्वतन्त्रयाऽमीभिस्त्रिभिरेव स्वतन्त्रया ॥६०॥

सम्प्रयच्छामि कैवल्यं त्रिविध वैविशेषतः ।  
नैव कश्चन सन्देहो विद्यतेऽत्र स्वधाभुनः ! ॥६१॥

हे पितृगण ! मैं जैव ऐश और सहज कर्म का द्रष्टा होकर इन तीनों के द्वारा ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र गति से सम्यक् त्रिविध मुक्ति का विधान करता हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥६०-६१॥

जैवेन कर्मणा दत्त्वा पदं शुक्लपथान्वयि ।  
ऐशेन कर्मणा नूनं पदं त्रैमूर्तिकं वरम् ॥६२॥

जीवन्मुक्तिपदं श्रेष्ठं कर्मणा सहजेन च ।  
सार्थकं स्वं त्रिनेत्रत्वं विदधेऽहं स्वधाभुजः ॥६३॥

सहज कर्म से श्रेष्ठ जीवन्मुक्त पद, ऐश कर्म से त्रिमूर्तिपद और जैव कर्म द्वारा शुक्लपथगामी पद प्रदान करके अपने त्रिनेत्र की सार्थकता करता हूँ ॥६२-६३॥

वर्णाश्रमीयधर्माणां भवन्तो रक्षका यतः ।  
अतः सहैव सम्बन्धस्त्रिभिर्वः परियुज्यते ॥६४॥

यत्राग्रगामिभावस्य वर्ततेच्छात्र वो मुदा ।  
तदग्रेसरतां लब्धुं भवन्तः शक्नुवन्ति च ॥६५॥

हे पितृगण ! वर्णाश्रमधर्म के रक्षक होने के कारण तीनों से ही आपका सम्बन्ध है, जिसकी ओर आप अग्रसर होना चाहते हो, हो सकते हो ॥६४-६५॥

भवन्तो धर्ममाश्रित्य कर्तव्यज्ञानतत्पराः ।



पितरः ! स्वीयकार्येषु निरता भवत ध्रुवम् ॥६६॥

तथा जगति धर्माणां पूर्णरूपप्रकाशने ।  
सहायकाः सदा यूयं भवत द्रागतन्द्रिताः ॥६७॥

हे पितृगण ! आप धर्म का आश्रय करके कर्तव्यबुद्धिपरायण होकर अपने कार्य में तत्पर हो और जगत में धर्म का पूर्ण स्वरूप प्रकाश करने में आलस्य रहित होकर सदा सहायक हो ॥६६-६७॥

मत्परायणतां सेवातत्परत्वञ्च मे बिना ।  
ऋते मद्युक्तचित्तत्वं साफल्यं वो न सम्भवेत् ॥६८॥

उच्यते सुगमोपायः श्रूयतां विश्वभूतिदाः ।  
वरिष्ठं यं समालम्ब्य कृच्छ्राव कृच्छ्रतरेष्वपि ॥६९॥

सक्ताः कार्येषु मद्भक्तेर्विमुखा न भविष्यथ । नूनमेकोऽद्वितीयोऽपि  
स्वभक्तेभ्यो निरन्तरम् ॥ ७० ॥

नानाविभूतिरूपेण दत्त्वा दर्शनमद्भुतम् ।  
तन्मनोरथसाफल्यं विदधेऽहं स्वधाभुजः ॥७१॥

परन्तु मत्सेवापरोयण, मद्गतचित्त और मत्परायण हुए बिना आप सफल काम नहीं हो सकेंगे। उसके लिये आपको उपाय बताता हूँ, सुनो। उस श्रेष्ठ उपाय को अवलम्बन करने पर आप कठिन से कठिन कर्म में रत रहने पर भी मेरी उपासना से च्युत नहीं हो सकोगे। हे



पितरो! मैं एक और अद्वितीय होने पर भी नाना विभूतिरूप से अपने भक्तो को हर समय दर्शन देकर सफल मनोरथ किया करता हूँ  
॥६४-७१॥

दिव्यानां मे विभूतीनां नान्तो यद्यपि विद्यते ।  
जनन्यो वः पराभक्तेः कियत्यस्तु विभूतयः ॥७२॥

सङ्केपतः प्रवक्ष्यन्ते श्रूयन्तां ताः समाहितैः ।  
भूतेषु चेतनः सृष्टीस्थितिसंहाररूपकः ॥७३॥

परिणामो भवेत्तेषां यश्च सोऽस्यहमेव भोः । प्रतिब्रह्माण्डमध्येऽस्मि  
त्रिमूर्तिश्च स्वधाभुजः ! ॥७४॥

हे पितृगण ! यद्यपि मेरी दिव्य विभूतियों के बाहुल्य का अन्त नहीं है तब भी मैं तुम्हारे में परा भक्ति की उत्पादक कुछ विभूतियों का संक्षेप से वर्णन करता हूँ, सुनो । भूतगण के भीतर मैं चेतना हूँ । भूतो का सृष्टि स्थिति और संहाररूपी जो परिणाम होता है सो मैं ही हूँ । प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैं त्रिमूर्ति हूँ ॥७२-७४॥

महर्षीणां भृगुरहं देवानाञ्च पुरन्दरः ।  
अधिभताभुष्वत्र भवत्स्वस्यहमर्यमा ॥७५॥

मानवानामहं राजा शासकेषु यमोऽस्यहम् ।  
इन्द्रियेषु मनश्चास्मि जहनुकन्या नदीषु च ॥ ७६ ॥



देवताओं में मैं इन्द्र हूँ । महर्षियों में मैं भृगु हूँ और अधिभूतेश्वर आप लोगों में मैं अयशा हूँ । मनुष्यों में राजा हूँ और शासकोंमें यम हूँ । इन्द्रियों में मन हूँ । मैं नदियों में गंगा हूँ ॥७५-७६॥

जलाशयेषु जलधिर्मन्त्रेषु प्रणवोऽस्यहम् ।  
वर्णेष्वोकाररूपोऽहं यज्ञेषु जपयज्ञकः ॥ ७७ ॥

और जलशयों में सागर हूँ । मन्त्रों में प्रणव हूँ और अक्षरों में ओंकार हूँ । यशों में जपयज्ञ हूँ ॥ ७७ ॥

आकर्षकेषु देशोऽस्मि कालः कलयतामहम् ।  
पृज्येषु विग्रहवस्मि शिवलिङ्गः स्वधाभुजः ! ॥ ७८ ॥

भक्तिक्रियाम् भक्तानां चक्ररूपोऽहमस्मि च ।  
देवपीठसमूहेषु निश्चितं पितृपुङ्गवाः ॥७९॥

नूनं सहजपीठात्मा पीठोऽस्मि मिथुनाह्वयः ।  
उपासनायाः स्थानं तु प्रासादप्रमुखेष्वहम् ॥८०॥

मैं वश करनेवालों में काल हूँ और आकर्षण करनेवालों में देश हूँ । हे पितृगण ! पूजा उपयोगी विग्रह में मैं शिवलिङ्ग हूँ ॥७८॥  
भक्तगण के भक्तिक्रिया में मैं चक्र हूँ । देवपीठ समूह में मैं सहजपीठ रूपी मिथुन पीठ हूँ । प्रासादादि में मैं उपासनास्थान हूँ ॥७९-८०॥

नमस्येषु हि दृश्येषु नूनमस्मि स्वधाभुजः ! !



बटुकश्च कुमारी च दम्पती शव एव च ॥८१॥

नमस्य दृश्यों में मैं बटुक कुमारी दम्पती और शव हूँ ॥८१॥

नमस्यासु क्रियास्वस्मि शिक्षादीक्षाक्रियात्मकः । तथोपास्तिमैथुनश्च  
कामोन्मादविवजितम ॥८२॥

नमस्य क्रियाओं में मैं उपासनाक्रिया शिक्षाक्रिया, दीक्षाक्रिया और  
कामोन्मादरहित मैथुन क्रिया हूँ ॥८२॥

नमस्येषु च शब्देषु वेदपाठः स्तुतिर्मम ।  
धर्मोपदेशो वै झिल्लीरवश्चाऽस्मि समाधिदः ॥८३॥

नमस्य शब्दों में मैं वेदपाठ, धर्मोपदेश, मेरी स्तुतिपाठ और  
समाधिप्रद झिल्लीरव हूँ ॥८३॥

प्रेम्णा स्नेहेन भक्तया च श्रद्धयाऽपि प्रपूरितम् ।  
स्पर्शेषु तु नमस्येष्वालिङ्गनं पितृपुङ्गवाः ! ॥८४॥

नमस्य स्पर्शों में मैं स्नेह प्रेम श्रद्धा और भक्तिपूर्ण आलिङ्गन हूँ ॥८४॥

घ्राणेष्वस्मि नमस्येषु यज्ञधूमोऽन्नगन्धकः ।  
दिव्यगन्धसमूहश्च पुष्पाणां सौरभं तथा ॥८५॥

नमस्य घ्राणों में मैं यज्ञ, धूम, पुष्पसौरभ, अन्नगन्ध और दिव्यगन्ध  
समूह हूँ ॥८५॥

विद्यास्वध्यात्मविद्याऽस्मि मृत्युः संहारकारिषु ।  
तेजो नरेषु नारीषु पवित्रा श्रीः स्वधाभुजः ! ॥८६॥

हे पितृगण ! मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या; संहार को मृत्यु, पुरुषों में तेज और स्त्रियों में पवित्र श्री हूँ ॥८६॥

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतनांकुसुमाकरः ।  
वाराणां सोमवारोऽस्मि निश्चितं पितृपुगवाः ! ॥ ८७ ॥

मैं मासों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त और वारों में निश्चय सोमवार हूँ ॥८७॥

अहोरात्रेषु पितरोऽस्म्यहं सन्धिचतुष्टयम् ।  
उद्यमोऽभ्युदये कार्ये ज्ञानं निःश्रेयसे तथा ॥८८॥

दिन रात्रि की चारों सन्धि मैं ही हूँ, मैं अभ्युदय की क्रियाओं में उद्यम और निःश्रेयस की क्रिया मैं ज्ञान हूँ ॥८८॥

उद्योगेषु च सर्वेषु विश्वकल्याणकारिषु ।  
दण्डरूपो विमार्गिभ्यो गुणिभ्योऽस्यादरस्तथा ॥८९॥

संयमो नियमश्चाहमास्तिक्यञ्चाऽस्मि भूतिदाः ।  
श्वासप्रश्वासरूपेषु सुषुम्ना प्राणकर्मसु ॥९०॥

ऐश्वर्ययुक्तं यत्किञ्चित् सम्पत्त्या युक्तमेव वा ।



बलप्रभावादिगुणैः समृद्धं यद्यदेव हि ॥९१॥

दृश्यते तद्विजानीत मद्विभूतिस्वरूपकम् ।  
मां विभूतिषु पश्यन्तोऽनुक्षणं हे स्वधाभुजः ! ॥९२॥

यूयं चेन्मद्गतस्वान्ता अथवा पूजया मम ।  
मत्परायणतामेत्य रताः कर्तव्यकर्माणि ॥९३॥

भवेयुस्तर्ह्याविश्यं वो विश्वस्याभ्युदयस्य च ।  
वहन्तो हेतुतामन्ते मां लभेध्वं न संशयः ॥९४॥

मैं जगत् के कल्याणकारी उद्योग, मैं विपथगामी को दण्ड, गुणी का आदर, संयम, नियम, और आस्तिकता हूँ और श्वास प्रश्वास रूपी प्राणक्रिया में सुषुम्ना हूँ । हे पितृगण ! जो कुछ ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त अथवा प्रभाव बल आदि गुण द्वारा समृद्ध जहाँ जहाँ देखो वहीं मेरी विभूति है ऐसा जानना चाहिए। हे पितृगण ! आप लोग यदि हर समय मुझ को विभूतियों में दर्शन करते हुए मद्गतचित्त होकर अथवा ,मेरी पूजा द्वारा मत्परायण होकर अपने कर्तव्य कर्म में रत रहोगे तो अवश्य ही अपने तथा जगत् के अभ्युदय के कारण होंगे और अन्त में मुझको प्राप्त होंगे, इसमें सन्देह नहीं ॥८९-९४॥

एष चोपनिषत्सारोपदेशः श्रावितो मया ।  
शम्भुगीतेतिनाम्नेयं गीता लोके प्रसेत्स्यति ॥९५॥

कृत्वा त्रयाणां लोकानां मानाञ्च क्रमोन्नतिम् ।



धर्मज्ञानं यथार्थश्च तेषु प्रद्योतयिष्यति ॥९६॥

मैंने उपनिषदों का साररूप, यह उपदेश तुमको सुनाया है। यह गीता शम्भुगीता नाम से प्रसिद्ध होकर त्रिलोक तथा मनुष्य जाति की क्रमोन्नति करके उसमें धर्म के यथार्थ ज्ञान का विकाश करे ॥९५-९६॥

गीतेयं दैवतत्त्वेष्वविश्वस्तेभ्यः कदाचन ।  
गुरुभक्तिविहीनेभ्यो विमुखेभ्यो मदेव हि ॥९७॥

नास्तिकेभ्योऽशुचिभ्यश्च नैव देया स्वधाभुजः ॥  
गुरौ वेदेषु देवेषु विश्वासं ये प्रकुर्वते ॥९८॥

तेभ्यो जगत्यां भक्तेभ्यः सदाचारिभ्य एव तु ।  
निःसन्देहं प्रदातव्या गीतेयं परमाद्भुता ॥९९॥

हे पितृगण ! यह गीता देव तत्वविश्वासहीन, अशुचि, गुरुभक्तिशून्य, परलोक पर विश्वास न रखनेवाले और मुझसे विमुख व्यक्तिको देने योग्य नहीं है। सदाचारी, और गुरु देवता और वेद पर विश्वास रखनेवाले मेरे भक्तों को ही यह परम अद्भुत गीता देनी चाहिये ॥९७-९९॥

यत्र तिष्ठति गीतेयमङ्गोपाङ्गसमन्विता ।  
अपयाति ततो बाधा तमः सूर्योदये यथा ॥१००॥



यह गीता जिस स्थान पर रहेगी वहाँ से सभी प्रकार की बाधा ऐसे दूर हो जायगी जैसे सूर्य के प्रकाश होते ही अन्धकार दूर होजाता है ॥१००॥

निस्सन्तानजनेभ्यो हि सुसन्तानप्रदायकः ।  
आसन्नमसवानाञ्च सर्वमंगलकारकः ॥१०१॥

अस्याः पाठोऽस्ति रोगिभ्यो धन्वन्तरिसमो भुवि ।  
नैवात्र विस्मया कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ! ॥१०२॥

सन्ततिहीन व्यक्तिके लिये सुसन्तान प्राप्ति कारक,आसन्न प्रसवा स्त्रियों के लिये सर्वमङ्गल प्रद और रोगी के लिये धन्वन्तरी सदृश इसका पाठ है, हे पितृवरो! इसमें आप विस्मय नहीं करें ॥१०१-२०२॥

एतया पितरः ! शम्भुयागानुष्ठानतो ध्रुवम् ।  
पाठतो होमतो वाऽपि यथाविधि निरन्तरम् ॥१०३॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्जायते नात्र संशयः ।  
विशेषतो गृहस्थानां नित्यपाठविधानतः ॥१०४॥

धनैश्चाणि पुत्राश्च कलत्रं शान्तिरेव च ।  
प्रजायते न सन्देहः सत्यमेतत् स्वधाभुजः! ॥१०५॥

हे पितृगण! इस गीता के सम्बन्ध से यथाविधि हवनात्मक अथवा पाठात्मक शिवयज्ञ का अनुष्ठान समान रूप से चतुर्वर्ग फलप्रद है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। विशेषतः हे पितृगण ! गृहस्थाश्रम के





कल्याण चाहनेवाले इसके नित्यपाठ द्वारा धन ऐश्वर्य पुत्र कला और शान्ति के अधिकारी होंगे ॥१०३-१०५॥

साधकानां निवृत्तानामस्याः पाठेन नित्यशः ।  
तत्त्वज्ञानाधिकारित्वं स्यानिःश्रेयसमेव च ॥१०६॥

निवृत्तिमार्गगामी साधकगण इसके नित्यपाठ द्वारा तत्त्वज्ञान के अधिकारी होकर निःश्रेयस प्राप्त करेंगे ॥१०६॥

अस्याः पाठेन नारीणां सतीत्वं प्रणयोऽनघः ।  
दम्पत्योः स्याद्यथाकामं ज्ञानवत्सन्ततिस्तथा ॥१०७॥

इसके पाठ द्वारा स्त्रियों में सतीत्वधर्म और दम्पति में पवित्र प्रेम की प्राप्ति होगी और पिता माता की इच्छा के अनुसार ज्ञानवान् सुसन्तति की उत्पत्ति होगी ॥१०७॥

प्रायशो वैदिका यागा लोपमेष्यन्त्यलं कलौ ।  
त्रिलौहनिम्मितं लिङ्गरूपं मे विग्रहं वरम् ॥ १०८ ॥

स्थापयित्वा विधानेन तदा वै पितरो ध्रुवम् ।  
ऋग्वेदसंहितास्वाहाकारेण सहितं खलु ॥१०९॥

विष्णोः सूर्यस्य शक्तेश्च धीशस्यापि यथाविधि ।  
अस्याः शम्भोश्च गीताया हवनेन समन्वितम् ॥११०॥

सप्तशत्यास्तथा देवीमाहात्म्यस्यापि निश्चितम् । सप्तभिर्हवनैर्युक्तं  
साङ्गोपाङ्गैः समन्वितम् ॥१११॥

विश्वधारकयागस्यानुष्ठानं मंगलालयम् ।  
भक्ता मे ये करिष्यन्ति व्ययशाव्यविवर्जिताः ॥११२॥

सत्कारं विदुषां सम्यगवाह्मणानाञ्च भोजनम् ।  
यथेष्टदान-दीनेभ्यः कृत्वा यज्ञं परात्परम् ॥११३॥

विश्वधारकनामानं पूरयिष्यन्ति सर्वथा ।  
स्वसङ्कल्पानुसारेण वैदिकानां फलं ध्रुवम् ॥११४॥

वाजपेयाश्वमेधादियज्ञानां महतामलम् ।  
लप्स्यन्ते ते हि निर्बाधं सन्देहो नाऽत्र कश्चन ॥११५॥

यज्ञो दानञ्च तीर्थञ्च तपो वा तादृशं न हि ।  
विश्वधारकयज्ञस्य यत् फलेन सम कलौ ॥११६॥

कलियुग में प्राचीन वैदिक याग लुप्त प्राय हो जायंगे, उस समय यदि त्रिलौह निर्मित मेरे लिङ्गरूप विग्रह की स्थापना पूर्वक ऋग्वेद संहिता, स्वाहाकार सहित विष्णुगीता, सूर्यगीता, शक्तिगीता, धीशगीता और इस शम्भुगीता के हवन के साथ देवीमाहात्म्य सप्तशती का हवन, इस प्रकार सप्त हवन समन्वित सांगोपांग विश्वधारक याग का अनुष्ठान मेरा भक्त करेगा और साथ ही साथ व्ययशाट्यरहित होकर ब्राह्मण भोजन, विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार और दीन दरिद्रों को यथेष्ट दान करके विश्वधारक यज्ञ की समाप्ति करेगा तो उसके संकल्प के



अनुसार अश्वमेध वाजपेय आदि सभी प्रकार के वैदिक यज्ञों के फल की उसको प्राप्ति होगी, इसमे सन्देह नहीं ॥ १०८-११६ ॥

भवेन्नैवात्र सन्देहः सत्यसमेतद्रवीमि वः ।  
माहात्म्यं शम्भुगीताया मर्त्यलोके प्रचार्य वै ॥११७॥

लोकद्वयस्य कल्याणं निष्पादयत कल्पदाः।  
स्वयं कल्याणमाजश्च यूयं भवत सत्तमाः ! ॥११८॥

ऐसा कोई यज्ञ, ऐसा कोई तीर्थ और ऐसा कोई 'दान और तप नहीं है जिसके फल की तुलना कलियुग में इस विश्व धारक याग के साथ हो सकती हो, यही सत्य है । हे श्रेष्ठ पितृगण ! आप इस गीता की महिमा मनुष्यलोक में प्रचारित करके उभय लोक का कल्याण साधन करें और स्वयं कल्याण को प्राप्त हो ॥११७-११८ ॥

इति श्रीशम्भुगीतामूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सदाशिवपितृ  
संवादे शिवलिङ्गनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशम्भुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का सदाशिवपितृसंवादात्मक शिवलिङ्ग निरूपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ श्री शम्भू गीता समाप्त हुई ॥

